साउथर्न पेट्रोकेमिकल इंडस्ट्रीज कं. लिमिटेड

बनाम

विद्युत निरीक्षक और ई.टी.आई.ओ. एवं अन्य

15 मई, 2007

[एस. बी. सिन्हा और मार्कंडेय काटजू, न्यायमूर्तिगण]

तमिलनाडु विद्युत उपभोग या विक्रय कर अधिनियम, 2003 – विधायी क्षमता तथा वैधता – संबंध में – अभिनिर्धारित : राज्य ने अपनी शक्तियों की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया है – राज्य की विधायी क्षमता तथा अधिनियम की वैधता को यथावत् रखा गया – यह भी अभिनिर्धारित कि यह विद्युत (प्रदाय) अधिनियम, 1948 के प्रतिकूल नहीं है – भारत का संविधान, 1950 – अनुच्छेद 14, 248, 254, 288, 366 – सामान्य खंड अधिनियम, 1897, धारा 6।

सिद्धांत :

उद्देश्यपरक निर्वचन का सिद्धांत – वैध अपेक्षा का सिद्धांत – वचनबद्ध अवरोध का सिद्धांत – अर्थ तथा प्रयोज्यता।

शब्द एवं वाक्यांश :

"जब तक भिन्न आशय न प्रकट हो", "संगत", "ऐसे निरसन के बावजूद" – तमिलनाडु विद्युत उपभोग या विक्रय कर अधिनियम, 2003 तथा सामान्य खंड अधिनियम, 1897 के संदर्भ में अर्थ।

"स्थायित्व", "विशेषाधिकार", "वस्तुएँ" – अर्थ।

तमिलनाडु विद्युत उपभोग या विक्रय कर अधिनियम, 2003 के उपबंधों की वैधता तथा/अथवा विद्युत उत्पादक कंपनियों तथा उपभोक्ताओं पर उनके अनुप्रयोग को मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अनेक रिट याचिकाओं द्वारा चुनौती दी गई थी। मद्रास उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने उक्त चुनौती को अस्वीकार कर दिया। अतः वर्तमान अपीलें दायर की गईं।

अपीलकर्ताओं की ओर से यह तर्क दिया गया कि विद्युत ऊर्जा के उपभोक्ता एक समरूप वर्ग का निर्माण करते हैं और इस कारण उन्हें छूट प्रदान करने के विषय में भेदभाव का शिकार नहीं बनाया जा सकता; कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समता का उपबंध संविधान की मूल संरचना का भाग है और ऐसी परिस्थिति में उसका प्रवर्तन किया जाना आवश्यक है तथा इस दृष्टि से राज्य पर यह दायित्व था कि वह सभी उपभोक्ताओं के साथ समान व्यवहार करे; कि चूँकि 2003 अधिनियम की धारा 14 स्वयं मनमानी है, इसलिए यह सिद्ध करने का भार राज्य पर था कि किया गया वर्गीकरण वैध वर्गीकरण है; तथा 2003 अधिनियम की वैधता को बनाए रखने के उद्देश्य से उसका संकीर्ण अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

यह भी तर्क दिया गया कि उच्च न्यायालय ने 2003 अधिनियम की धारा 20 की उपधाराओं (1) एवं (2) की संयुक्त व्याख्या करके स्पष्ट त्रुटि की है; कि वे एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करती हैं; कि 2003 अधिनियम की धारा 20(1) के साथ संलग्न परंतुक 1962 अधिनियम तथा 1939 अधिनियम के निरसन से उत्पन्न बचाव का प्रावधान करता है; जबकि धारा 20(2) एक विधिक कल्पना का सृजन करती है, जिसके अनुसार कुछ विषयों की निरंतरता इस प्रकार बनी रहती है मानो 1962 एवं 1939 के अधिनियम निरस्त न हुए हों; कि धारा 20(1) में सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 में प्रयुक्त शब्द "जब तक भिन्न आशय न प्रकट हो" सम्मिलित नहीं हैं, और इसलिए 1939 अथवा 1962 अधिनियम के अधीन उपभोक्ताओं द्वारा अर्जित सभी अधिकार एवं विशेषाधिकार संरक्षित हैं। यह भी कहा गया कि नई आर्थिक नीति को दृष्टिगत रखते हुए विधि निजी क्षेत्र में अधिक भागीदारी को प्रोत्साहित करती है और इसलिए शाब्दिक अथवा संकीर्ण व्याख्या इस उद्देश्य को विफल कर देगी; कि किसी भी दशा में धारा 14 की ऐसी व्याख्या की जानी चाहिए जिससे वह संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुरूप बनी रहे; तथा यह कि "विशेषाधिकार" अधिकार से उच्चतर है, और इस कारण भले ही अपीलकर्ताओं ने कोई

अधिकार अर्जित न किया हो, किंतु चूँकि वे विशेषाधिकार का उपभोग करते रहे हैं, इसलिए 2003 अधिनियम की धारा 20(1) के खंड (ख) के अधीन वह संरक्षित है।

यह भी तर्क दिया गया कि पक्षकारों ने राज्य द्वारा किए गए आश्वासनों पर विश्वास करते हुए अपने उद्योग स्थापित किए; कि चीनी उद्योगों ने इस प्रयोजन हेतु लगभग 745.64 करोड़ रुपये व्यय किए; और इस महत्वपूर्ण निवेश को दृष्टिगत रखते हुए वचनबद्ध अवरोध का सिद्धांत वर्तमान मामले में लागू होना चाहिए तथा इसलिए राज्य, अपीलकर्ताओं सहित कैप्टिव विद्युत संयंत्रों से विद्युत शुल्क की माँग करने से अवरुद्ध है।

उत्तरदाता-तमिलनाडु राज्य की ओर से, अन्य बातों के साथ-साथ, यह तर्क दिया गया कि सूची-II में उल्लिखित विषयों पर विधायन करने का राज्य विधानमंडल का विशिष्ट अधिकार पूर्णतः अनन्य है और इसलिए उसकी प्रविष्टि 53, संविधान की सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची-III की प्रविष्टि 38 के अधीनस्थ नहीं हो सकती; कि अभिलेख पर ऐसा कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है जिससे यह प्रदर्शित हो कि राज्य विधानमंडल ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अथवा किसी अन्य प्रकार से अपनी विधायी शक्ति का अतिक्रमण किया है; कि 1998 अधिनियम के अधीन गठित राज्य विद्युत विनियामक आयोग के कार्य विद्युत के सामान्य पहलुओं से संबंधित हैं, न कि कराधान से, और इसलिए 1998 अधिनियम संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची-II की प्रविष्टि 53 पर प्रभावी नहीं हो सकता; फलतः संविधान का अनुच्छेद 254 लागू नहीं होता; कि छूट अपनी प्रकृति से कोई अधिकार उत्पन्न नहीं करती और वह सदैव निरस्त या वापस ली जा सकती है; कि वचनबद्ध अवरोध का सिद्धांत वर्तमान मामले में लागू नहीं होगा, क्योंकि राज्य को 2003 अधिनियम के अधीन विद्युत उपभोग कर की छूट को वापस लेने से रोका नहीं जा सकता, चाहे उक्त सिद्धांत के आधार पर अथवा अन्यथा, क्योंकि किसी अधिनियम को निरस्त कर पुनः अधिनियमित करने की विधायी शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध कोई अवरोध नहीं हो सकता। 1962 अधिनियम की धारा 13(1) के अधीन प्रदत्त छूट भी धारा 13(2) के अधीन निरस्तीकरण अथवा परिवर्तन के अधीन थी।

अपीलों को आंशिक रूप से स्वीकार करते हुए, न्यायालय ने

अभिनिर्धारित किया : 1.1. तीनों सूचियों की विभिन्न प्रविष्टियाँ विधायन के क्षेत्रों का निर्धारण करती हैं। अतः उनकी व्याख्या व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण से की जानी चाहिए, न कि संकीर्ण अथवा शाब्दिक पद्धति से। सातवीं अनुसूची की सूचियों की संरचना में विधायन के सामान्य विषयों तथा कराधान संबंधी शीर्षों के मध्य स्पष्ट भेद किया गया है। दोनों को पृथक-पृथक सूचीबद्ध किया गया है। विधायी क्षमता के प्रयोजनार्थ कराधान को सामान्य प्रविष्टियों से भिन्न एक स्वतंत्र विषय के रूप में माना गया है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 248 के खंड (1) एवं (2) भी उक्त प्रविष्टियों की इसी प्रकृति को प्रतिबिंबित करते हैं और इसीलिए कराधान से संबंधित विषय को पृथक रूप से निर्दिष्ट किया गया है। कर अधिरोपित करने की शक्ति सामान्यतः किसी सामान्य प्रविष्टि से सहायक शक्ति के रूप में व्युत्पन्न नहीं की जाएगी। सूची-II में प्रविष्टि 1 से 44 तक का समूह उन विषयों पर राज्य की विधायी क्षमता का प्रावधान करता है जो उनमें निर्दिष्ट हैं, जबकि प्रविष्टि 45 से 63 तक का समूह कराधान से संबंधित है। इसका आशय यह नहीं है कि किसी कराधान अधिनियम की वैधता के प्रश्न में यह तत्व स्वयं निर्णायक होगा, क्योंकि संसद कभी-कभी अनेक प्रविष्टियों के अधीन विधायन कर सकती है, जिनमें से एक कराधान संबंधी प्रविष्टि भी हो सकती है। [कंडिका 55] [987-डी-एफ]

1.2. सूची-II की प्रविष्टि 53 तथा सूची-III की प्रविष्टि 38 का अवलोकन मात्र ही यह स्पष्ट कर देता है कि दोनों का संचालन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होना अभिप्रेत है। [कंडिका 56] [987-जी]

1.3. प्रविष्टि 53 में ऐसा कोई प्रतिबंध निहित नहीं है और इसलिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 254 के खंड (3) का वर्तमान मामले में कोई अनुप्रयोग नहीं होगा। [कंडिका 58] [988-बी]

1.4. आक्षेपित अधिनियम बनाने की तमिलनाडु राज्य की विधायी क्षमता किसी भी प्रकार के विवाद से परे है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अधिनियम बनाने में राज्य की कार्यवाही किसी छद्म विधायी शक्ति-प्रयोग से ग्रस्त है। इसलिए सुरक्षित रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्य ने अपनी शक्तियों की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया है। [कंडिका 59] [988-बी-सी]

1.5. सूची-II की प्रविष्टि 53 कराधान संबंधी प्रविष्टि है, जबकि सूची-III की प्रविष्टि 38 कराधान से पृथक विद्युत के सामान्य पहलुओं से संबंधित अकराधान प्रविष्टि है। 1998 का अधिनियम आयोग को केवल विद्युत दर अथवा विद्युत उपभोग के लिए देय शुल्क निर्धारित करने की शक्ति प्रदान करता है। राज्य द्वारा बनाया गया विधायन विद्युत शुल्क की वास्तविक दरों से स्वतंत्र है। दर-सारणी का अभिप्राय सामान्यतः वाणिज्यिक दरों की सूची अथवा दर-पुस्तिका से है। [कंडिका 61] [988-जी-एच]

1.6. अतः 2003 का अधिनियम, 1948 के अधिनियम के प्रतिकूल नहीं है। [कंडिका 64] [989-डी]

कृष्णचन्द्र गजपति नारायण देव एवं अन्य बनाम उड़ीसा राज्य, **[1954] एससीआर 1;** *आर.एस. जोशी, विक्रय कर अधिकारी, गुजरात एवं अन्य बनाम अजीत मिल्स लिमिटेड एवं अन्य,* **[1977] 4 एससीसी 98;** *राजा जगन्नाथ बख्श सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* **एआईआर 1962 एससी 1563** तथा *मध्य प्रदेश विद्युत कर्मचारी संघ बनाम मध्य प्रदेश विद्युत मंडल,* **[2004] 9 एससीसी 755, पर अवलंबन किया गया।**

मेसर्स यूनिवर्सल इम्पोर्ट्स एजेंसी एवं अन्य बनाम आयात-निर्यात मुख्य नियंत्रक एवं अन्य, **[1961] 1 एससीआर 305;** *श्री राम प्रसाद (मृतक) अपने विधिक प्रतिनिधि द्वारा बनाम पंजाब राज्य,* **[1966] 3 एससीआर 486;** *पंजाब राज्य बनाम हरनेक सिंह,* **[2002] 3 एससीसी 481;** *आंध्र प्रदेश राज्य बनाम नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन लिमिटेड एवं अन्य,* **[2002] 5 एससीसी 203;** *बीएसईएस लिमिटेड बनाम टाटा पावर कंपनी लिमिटेड एवं*

अन्य, **[2004] 1 एससीसी 195;** *एम.आर.एफ. लिमिटेड, कोट्टायम बनाम सहायक आयुक्त (निर्धारण), विक्रय कर एवं अन्य,* **[2006] 8 एससीसी 702;** *पंजाब राज्य बनाम नेस्ले इंडिया लिमिटेड एवं अन्य,* **[2004] 6 एससीसी 465;** *मदन मोहन पाठक एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य,* **[1978] 2 एससीसी 50;** *उड़ीसा राज्य विद्युत मंडल एवं अन्य बनाम आईपीआई स्टील लिमिटेड एवं अन्य,* **[1995] 4 एससीसी 320** तथा *मैसूर राज्य बनाम वेस्ट कोस्ट पेपर्स मिल्स लिमिटेड एवं अन्य,* **[1975] 3 एससीसी 448,** का उल्लेख किया गया।

2.1. निस्संदेह 1962 के अधिनियम की धारा 18 तथा 2003 के अधिनियम की धारा 21 दोनों में यह उपबंध है कि वे भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 के अधीन होंगी। उक्त अनुच्छेद कुछ परिस्थितियों में राज्यों द्वारा जल अथवा विद्युत पर कराधान से छूट का प्रावधान करता है। उसके खंड (2) में यह अनिवार्य किया गया है कि यदि कोई राज्य कर अधिरोपण हेतु विधि बनाता है और ऐसी विधि कर की दरों तथा उससे संबंधित अन्य पहलुओं के निर्धारण का प्रावधान करती है, तो उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति अपेक्षित होगी। [कंडिका 65] [989-ई-एफ]

2.2. भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 के खंड (2) का साधारण पठन किसी भी प्रकार का संदेह उत्पन्न नहीं करता कि उसका अनुप्रयोग केवल दामोदर घाटी निगम जैसे नदी-घाटी प्राधिकरणों के संबंध में अभिप्रेत था, जिनका गठन दामोदर घाटी निगम अधिनियम, 1948 के अंतर्गत किया गया था। [कंडिका 66] [989-जी-एच]

2.3. यह सत्य हो सकता है कि इस प्रकार के मामले में अनुच्छेद 288 की प्रयोज्यता के संबंध में स्पष्ट उपबंध करना आवश्यक नहीं था, तथापि ऐसा *अत्यधिक सावधानीवश* **(अर्थात् अतिरिक्त एहतियात के तौर पर) किया गया होगा। केवल इस कारण कि संविधान के किसी उपबंध का अधिनियम में उल्लेख किया गया है, यह आवश्यक नहीं हो जाता कि उसकी संवैधानिक वैधता का परीक्षण करते समय उसी को निर्णायक माना जाए। यह स्थापित**

सिद्धांत है कि उपबंधों को समग्र रूप से पढ़ा जाना चाहिए। उनकी ऐसी व्याख्या की जानी चाहिए जिससे संविधान के अनुच्छेद 287 में निहित उपबंधों को प्रभावी बनाया जा सके। इसका प्रयोजन संविधान के भाग-12 के शीर्षक के संदर्भ में कार्यान्वित होना है, न कि वर्तमान मामले जैसी स्थिति से निपटने के लिए। [कंडिका 67] [990-डी-एफ]

2.4. राज्य विद्युत मंडल को 2003 के अधिनियम के अधीन छूट प्रदान की गई है, किंतु केवल इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनसे विद्युत ऊर्जा क्रय करने वाले व्यक्ति भी छूट के अधिकारी होंगे। यदि ऐसा अभिप्रेत होता तो उसका स्पष्ट उपबंध किया जाता। विधि-निर्वचन का यह सिद्धांत कि छूट संबंधी उपबंध तभी लागू होते हैं जब उनके लिए अपेक्षित पूर्ववर्ती शर्तें पूर्ण हों, संवैधानिक व्याख्या के मामलों में भी समान रूप से लागू होगा। [कंडिका 68] [990-जी-एच]

2.5. "के अधीन" अभिव्यक्ति का अर्थ है कि अनुच्छेद 288 के उपबंधों का पालन किया जाएगा। यद्यपि सामान्यतः "के अधीन" अभिव्यक्ति से यह आशय निकलता है कि कोई उपबंध किसी अन्य उपबंध के समक्ष स्थान छोड़ता है, तथापि प्रदत्त छूट की प्रकृति, उसके विषय-वस्तु तथा छूट प्राप्तकर्ता की प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुए, हमारे मत में अनुच्छेद 288 का वर्तमान मामले में कोई अनुप्रयोग नहीं है। [कंडिका 70] [991-बी-सी]

दामोदर घाटी निगम बनाम बिहार राज्य एवं अन्य, **[1976] 3 एससीसी 710;** *सुरिंदर सिंह बनाम केन्द्रीय सरकार एवं अन्य,* **एआईआर 1986 एससी 2166;** *साउथ इंडिया कॉरपोरेशन (प्रा.) लिमिटेड बनाम राजस्व मंडल सचिव, त्रिवेन्द्रम एवं एक अन्य,* एआईआर **1964 एससी 207;** *अशोक लेलैंड लिमिटेड बनाम तमिलनाडु राज्य एवं अन्य,* **[2004] 3 एससीसी 1** तथा *एस.एन. चंद्रशेखर एवं अन्य बनाम कर्नाटक राज्य एवं अन्य,* **[2006] 3 एससीसी 208, पर अवलंबन किया गया।**

3.1. यह प्रश्न कि 2003 का अधिनियम भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समता उपबंध का उल्लंघन करता है, उच्च न्यायालय के समक्ष नहीं उठाया गया था। केवल

एक दीवानी अपील में अतिरिक्त आधार लेने की प्रार्थना की गई थी, जिसे अनुमति दिए जाने पर यह प्रश्न उठाया गया। किंतु कोई भी आधार तथ्यात्मक नींव पर आधारित होना चाहिए। अनुच्छेद 14 को आकर्षित करने हेतु आवश्यक तथ्यों का अभिवचन किया जाना अपेक्षित था। 2003 अधिनियम की धारा 14 किस प्रकार भेदभावपूर्ण है, इसके मूलभूत तथ्य कहीं भी प्रस्तुत नहीं किए गए। तमिलनाडु सरकार को भी इस तर्क का प्रतिवाद करने का अवसर नहीं दिया गया। [कंडिका 71] [991-डी-ई]

3.2. अब यह सुस्थापित है कि जब तक ऐसी तथ्यात्मक नींव स्वयं अधिनियम से प्रत्यक्ष रूप से प्रकट न हो, तब तक इस प्रकार का प्रश्न, वह भी प्रथम बार इस न्यायालय के समक्ष, उठाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। [कंडिका 72] [991-एफ]

3.3. इसके अतिरिक्त, कराधान के क्षेत्र में राज्य को व्यापक विवेकाधिकार प्राप्त है और उसे करारोपण तथा छूट के लिए विषयों का चयन करने की अनुमति है। [कंडिका 74] [992-बी]

3.4. न्यायालय यह नहीं समझता कि उक्त प्रश्न में प्रवेश करना उपयुक्त होगा। [कंडिका 75] [992-बी]

3.5. उच्च न्यायालय के समक्ष आवश्यक अभिवचनों तथा आधारों के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि केवल इस कारण कि निरसित अधिनियम की धारा 13, 2003 अधिनियम की धारा 14 से असंगत है, वह भेदभावपूर्ण होने के कारण मनमानी तथा संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करने वाली हो जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि करारोपण संबंधी धारा विद्युत ऊर्जा के विक्रय एवं उपभोग पर कर अधिरोपित करती है, जबकि छूट संबंधी उपबंध केवल "उपभोग हेतु विक्रय की गई विद्युत" पर कर से छूट देने की शक्ति प्रदान करता है और स्व-उत्पादित एवं स्व-उपभोगित विद्युत ऊर्जा के संबंध में समकक्ष छूट का कोई उपबंध नहीं करता। [कंडिका 76] [992-सी-डी]

आंध्र प्रदेश राज्य बनाम नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन लिमिटेड एवं अन्य, **(2002) 5 एससीसी 203;** *बीएसईएस लिमिटेड बनाम टाटा पावर कंपनी लिमिटेड एवं अन्य,* **(2004) 1 एससीसी 195;** तथा *ओरिएंट वीविंग मिल्स (प्राइवेट) लिमिटेड बनाम भारत संघ,* **(1962) अनुपूरक 3 एससीआर 481, पर अवलंबन किया गया।**

4.1. उद्देश्यपरक निर्वचन के सिद्धांत का आश्रय तभी लिया जा सकता है जब किसी उपबंध में अस्पष्टता विद्यमान हो। यदि इस संबंध में प्रस्तुत तर्क को स्वीकार किया जाए, तो न्यायालय को न केवल "विक्रयित" शब्द के ठीक बाद प्रयुक्त "उपभोग हेतु" शब्दों की उपेक्षा करनी होगी, बल्कि "उपभोग" शब्द के ठीक बाद प्रयुक्त "द्वारा" शब्द की भी उपेक्षा करनी होगी। ऐसा करने पर न्यायालय को एक नया अर्थ प्रदान करना पड़ेगा, जो न्यायिक विधिनिर्माण के समान होगा। इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से कराधान संबंधी उपबंध को एक नया आयाम प्राप्त हो जाएगा, जिसके परिणामस्वरूप छूट संबंधी उपबंधों को केवल विद्युत के विक्रय के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि उसके उपभोग के संदर्भ में भी समझना पड़ेगा। [कंडिका 79] [993-बी-सी]

4.2. यह एक बात है कि जहाँ किसी अधिनियम में प्रयुक्त शब्द अथवा अभिव्यक्तियाँ पूर्ववर्ती *समान विषयवस्तु* वाले अधिनियम से ग्रहण की गई हों और उनकी न्यायिक व्याख्या पहले से उपलब्ध हो, वहाँ यह उपधारित किया जा सकता है कि संसद उससे अवगत थी और बाद के अधिनियम में उसी का अनुसरण करना चाहती थी। किंतु यह दूसरी बात है कि केवल इसलिए कि किसी समेकन अधिनियम ने विषय से संबंधित विभिन्न अधिनियमों को सुव्यवस्थित रूप में पुनः अधिनियमित किया है, पूर्ववर्ती विधानों का संदर्भ लेना आवश्यक या उचित हो। [कंडिका 81] [993-एफ]

4.3. "समेकित करना तथा संशोधन करना" शब्दावली प्रायः निरसन संबंधी उपबंधों में प्रयुक्त होती है। ऐसा अधिनियम सामान्यतः विधि में परिवर्तन करने के उद्देश्य से नहीं बनाया जाता। [कंडिका 82] [993-जी]

4.4. ऐसा कोई संवैधानिक अथवा वैधानिक निषेध नहीं है कि समेकन अधिनियम अनिवार्यतः संशोधन अधिनियम भी हो। जब नए अधिनियम में भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया हो, तब न्यायालय के लिए निरसित अधिनियम के उपबंधों का संदर्भ लेना उचित नहीं होगा। [कंडिका 85] [995-ए]

4.5. समेकन अधिनियम और अन्य अधिनियमों के बीच का भेद अब पूर्ववत् मान्य नहीं रह गया है। केवल कुछ अपवादात्मक परिस्थितियों में ही पूर्ववर्ती अधिनियम में प्रयुक्त भाषा का आश्रय लिया जा सकता है। [कंडिका 86] [995-बी]

भारत संघ बनाम महिन्द्रा सप्लाई कंपनी, **एआईआर 1962 एससी 256, पर अवलंबन किया गया।**

आईआरसी बनाम हिंची, **(1960) 1 ऑल ईआर 505;** *बेस्विक बनाम बेस्विक,* **(1967) 2 ऑल ईआर 1197;** *लोक अभियोजन निदेशक बनाम शिल्डकैम्प,* **(1969) 3 ऑल ईआर 1640;** *मौन्सेल बनाम ओलिन्स,* **(1975) 1 ऑल ईआर 16;** *फैरेल बनाम अलेक्जेंडर,* **(1976) 2 ऑल ईआर 721;** *विलियम्स बनाम परमानेंट ट्रस्टी कंपनी ऑफ न्यू साउथ वेल्स,* **(1906) एसी 249;** *तथा ग्रे बनाम आईआरसी,* **(1959) 3 ऑल ईआर 603, का उल्लेख किया गया।**

जयन्तीलाल अमरथलाल बनाम भारत संघ, **(1972) 4 एससीसी 174;** *इंडिया टोबैको कंपनी लिमिटेड बनाम वाणिज्यिक कर अधिकारी, भवानीपुर एवं अन्य,* **(1975) 3 एससीसी 512;** *टी.एस. बालैया बनाम टी.एस. रंगाचारी, आयकर अधिकारी, केन्द्रीय वृत्त-6, मद्रास,* **[1969] 3 एससीआर 65;** तथा *गजराज सिंह एवं अन्य बनाम राज्य परिवहन अपीलीय न्यायाधिकरण एवं अन्य,* **(1997) 1 एससीसी 650, का उल्लेख किया गया।**

एन.एस. बिंद्रा की "इंटरप्रिटेशन ऑफ स्टैच्यूट्स", **दशम संस्करण, पृष्ठ 1071-1072** तथा *जी.पी. सिंह की "प्रिन्सिपल्स ऑफ स्टैच्यूटरी इंटरप्रिटेशन",* **दशम संस्करण, पृष्ठ 315-316, का उल्लेख किया गया।**

5.1. तथापि महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि "जब तक भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्दावली, जो सामान्य खंड अधिनियम, 1897 की धारा 6 में प्रयुक्त है, 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (1) में सम्मिलित नहीं की गई है। अतः धारा 20 की उपधारा (1) और उपधारा (2) भिन्न परिस्थितियों में कार्य करती हैं। जहाँ धारा 20 की उपधारा (1) के परंतुक में 1939 तथा 1962 के अधिनियमों के निरसन से उत्पन्न परिणामों का प्रावधान है, वहीं धारा 20(2) कुछ कार्यवाहियों अथवा स्थितियों की निरंतरता के लिए एक वैधानिक कल्पना का निर्माण करती है, मानो उक्त अधिनियम निरसित ही न हुए हों। 1939 तथा 1962 के अधिनियमों के निरसन का परिणाम यह भी होगा कि उनके अधीन जारी अधिसूचनाएँ भी निरसित हो जाएँगी। तथापि धारा 20 की उपधारा (1) के परंतुक द्वारा इस परिणाम के संबंध में एक अपवाद निर्मित किया गया है। [कंडिका 95] [1000-एफ-जी]

5.2. यदि धारा 20 की उपधारा (1) और उपधारा (2) भिन्न क्षेत्रों में कार्य करती हैं, तो धारा 20 का सीमांत शीर्षक, अर्थात् "निरसन और संरक्षण", कोई विशेष महत्व नहीं रखेगा। यदि धारा 20 की दोनों उपधाराएँ परस्पर निर्भर नहीं हैं, विशेषकर उनमें प्रयुक्त भाषा को देखते हुए, तो उन्हें एक साथ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। किसी अधिनियम की व्याख्या करते समय यह मानकर नहीं चला जा सकता कि अन्यथा कोई विसंगति उत्पन्न होगी और उसी आधार पर यह आग्रह किया जाए कि दोनों उपधाराओं को संयुक्त रूप से पढ़ा जाए। [कंडिका 96] [1000-एच; 1001-ए-बी]

5.3. यह तर्क कि न्यायालय को धारा 20 की उपधारा (1) में "जब तक भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्द जोड़कर पढ़ना चाहिए, विधि की दृष्टि में स्वीकार्य नहीं है। धारा 14 की व्याख्या करते समय उद्देश्यपरक निर्वचन के सिद्धांत को लागू करने तथा उसे सीमित अर्थ में पढ़ने का ऐसा ही तर्क पूर्व में अस्वीकार किया जा चुका है। न्यायालय 2003 के अधिनियम की धारा 20 की व्याख्या करते समय भिन्न मानदंड लागू करने का इच्छुक नहीं है। किसी अधिनियम में शब्दों का विलोपन महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। विधायिका

की मंशा का निर्धारण सर्वप्रथम अधिनियम में प्रयुक्त शब्दों से ही किया जाना चाहिए और केवल तभी उद्देश्यपरक निर्वचन का सहारा लिया जा सकता है जब शाब्दिक व्याख्या से कोई विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो। यह भी विधि का सुस्थापित सिद्धांत है कि न्यायालय किसी छूटी हुई बात की पूर्ति नहीं कर सकता। [कंडिका 97] [1001-सी-डी]

5.4. यद्यपि 2003 के अधिनियम के धारा 20 की उपधारा (1) का परंतुक सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 को लगभग समाहित करता है, तथापि उसमें एक महत्वपूर्ण अंतर है, जिसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। यदि विधायिका ने भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है अथवा कुछ शब्दों का जानबूझकर विलोपन किया है, तो न्यायालय उन्हें "जब तक भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्दों से युक्त नहीं मान सकता। यह संभव है कि 2003 के अधिनियम के उपबंध 1962 के अधिनियम से स्पष्ट रूप से भिन्न हों, किंतु यह मानना होगा कि विधायिका ने ऐसा जानबूझकर किया है। 2003 के अधिनियम के धारा 20 की उपधारा (1) और उपधारा (2) के बीच अंतर स्थापित करने की विधायिका की मंशा स्पष्ट है। "जब तक भिन्न आशय प्रकट न हो" अथवा "जब तक अधिनियम में इसके विपरीत कोई उपबंध न हो" जैसी महत्वपूर्ण शब्दावली से विधायिका भली-भाँति परिचित थी। जहाँ उसने उपधारा (1) में ऐसी शब्दावली सम्मिलित नहीं की, वहीं उपधारा (2) में उसे सम्मिलित किया। [कंडिका 98] [1001-ई-जी]

5.5. उक्त शब्दों की व्याख्या करते समय प्रारंभ में 2003 के अधिनियम की धारा 14 का भी निर्वचन आवश्यक हो सकता है। "तत्सम" अथवा "समरूप" शब्द का अर्थ "सामंजस्यपूर्ण", "सदृश", "अनुरूप" अथवा "समान" हो सकता है। [कंडिका 99] [1001-एच]

5.6. जहाँ 1939 के अधिनियम में विद्युत ऊर्जा के विक्रय पर कर से छूट का कोई उपबंध नहीं था, वहीं 1962 के अधिनियम की धारा 13, जो विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर कराधान से संबंधित थी, स्पष्ट रूप से ऐसी छूट प्रदान करती थी। इसके विपरीत 2003 के

अधिनियम की धारा 14 विद्युत ऊर्जा के उपभोग के स्थान पर उसके विक्रय के संबंध में छूट प्रदान करने का उपबंध करती है। इस प्रकार यह 1962 के अधिनियम द्वारा प्रदत्त विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर कर से छूट देने की शक्ति को समाप्त कर देती है। जब यह माना जाता है कि 2003 के अधिनियम की धारा 14 में 1939 अथवा 1962 के अधिनियम के संबंधित उपबंधों के समरूप कोई उपबंध नहीं है, तब 2003 के अधिनियम की धारा 20(2) लागू नहीं होगी। यदि 2003 के अधिनियम की धारा 20(2) लागू नहीं होती, तो धारा 20(1) लागू होगी। और जब 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) लागू होती है, तब "जब तक भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्दों का अभाव अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (1) के परंतुक और उपधारा (2) के बीच कोई संघर्ष नहीं रहता। फलतः 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (1) ही प्रभावी होगी। [कंडिका 101 एवं 102] [1002-बी-एफ]

5.7. उच्च न्यायालय ने यह मानकर स्पष्ट त्रुटि की कि दोनों उपबंध एक ही परिस्थिति से संबंधित हैं। इसके अतिरिक्त, 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (2) में "ऐसे निरसन के होते हुए भी" शब्दावली का प्रयोग किया गया है; अतः इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह धारा 20 की उपधारा (1) में निहित किसी बात के होते हुए भी लागू होगी। [कंडिका 103] [1002-जी]

5.8. उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचने के पश्चात्, धारा 20 की उपधारा (1) के परंतुक की उसकी स्वयं की भाषा के आधार पर व्याख्या करना आवश्यक नहीं रह जाता। [कंडिका 104] [1002-एच]

5.9. वर्तमान प्रकृति के मामले में परंतुक, निरसन उपबंध के प्रभाव को सीमित करता है। वह निरसन के बावजूद उसमें विनिर्दिष्ट विषयों का संरक्षण करना चाहता है। सामान्य खंड अधिनियम, 1897 की धारा 6 भी वही उद्देश्य प्राप्त करना चाहती है, बशर्ते कि निरसन करने वाले अधिनियम में निरसित अधिनियमों से असंगत कोई उपबंध न हो। 1962 का अधिनियम

विद्युत उपभोग पर अधिरोपित कर के भुगतान से छूट प्रदान करता था। जब सक्षम प्राधिकारी द्वारा कोई अधिसूचना जारी की जाती थी, तब उसे एक उद्देश्य प्रदान किया जाना आवश्यक था। उसके अधीन जारी अधिसूचना "विधिपूर्वक किए गए किसी कार्य" शब्दों के अंतर्गत आने वाली कार्रवाई हो सकती है। यह तर्क स्वीकार्य नहीं है कि केवल इसलिए कि 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (2) में अधिसूचना का उल्लेख है, जहाँ कहीं अधिसूचना जारी हुई हो वहाँ उपधारा (1) का कोई अनुप्रयोग नहीं होगा। [कंडिकाएँ 105, 106 एवं 107] [1003-डी-एफ]

5.10. विधिपूर्वक जारी अधिसूचना के आधार पर प्राप्त कर-छूट का अधिकार एक अर्जित अधिकार उत्पन्न करता है। यह एक निहित अधिकार है। ऐसा अधिकार उन्हें स्थायी रूप से प्रदान किया गया था। "स्थायित्व" का अर्थ है—जब तक किसी विधि द्वारा उसमें परिवर्तन न किया जाए। जब कोई अधिकार अर्जित अथवा निहित हो जाता है, तब उसे केवल विधि द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। अतः विधिपूर्वक जारी अधिसूचना तब तक प्रभावी रहेगी जब तक उसका निरसन न कर दिया जाए। [कंडिकाएँ 108 एवं 109] [1003-जी; 1004-ए]

5.11. वर्तमान अपीलकर्ताओं के पक्ष में कर भुगतान से छूट भी एक अधिकार अथवा विशेषाधिकार का गठन करती है। "विशेषाधिकार" शब्द का अर्थ "अधिकार" की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अधिकार निहित अधिकार, अर्जित अधिकार अथवा प्राप्त अधिकार हो सकता है। ऐसे अधिकार की प्रकृति संबंधित विधि पर निर्भर करेगी तथा एक विधि से दूसरी विधि में भिन्न भी हो सकती है। [कंडिका 120] [1006-बी, सी]

जे. श्रीनिवास राव बनाम आंध्र प्रदेश सरकार एवं एक अन्य, (2006) 13 स्केल 27; *एच.वी. मथाई बनाम अधीनस्थ न्यायाधीश, कोट्टायम एवं अन्य*, [1969] 2 एससीसी 194; *एस. सुंदरम पिल्लै बनाम वी.आर. पट्टाभिरामन*, [1985] 1 एससीसी 591 तथा *स्वीडिश मैच*

एबी बनाम भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय समिति, [2004] 11 एससीसी 641, पर अवलंबन किया गया।

स्ट्राउड्स ज्यूडिशियल डिक्शनरी, द्वितीय संस्करण, खंड-1, पृष्ठ 355; एफ.ए.आर. बेनियन की *"स्टैच्यूटरी इंटरप्रिटेशन—ए कोड"*, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 229; तथा *मैक्सवेल ऑन द इंटरप्रिटेशन ऑफ स्टैच्यूट्स*, द्वादश संस्करण, पृष्ठ 18, का उल्लेख किया गया।

6.1. वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत निःसंदेह उस स्थिति में लागू होगा जहाँ कोई उद्यमी राज्य द्वारा किए गए उस वचन के आधार पर अथवा उसके अनुसरण में अपनी स्थिति परिवर्तित कर लेता है, जिसके अंतर्गत अन्य बातों के साथ करों अथवा शुल्कों के भुगतान से छूट अथवा प्रचलित दरों के आधार पर रियायत प्रदान करने का आश्वासन दिया गया हो। राज्य का ऐसा नीतिगत निर्णय केवल वैधानिक उपबंधों के अधीन जारी अधिसूचनाओं द्वारा ही नहीं, बल्कि कार्यपालिका के निर्देशों द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। अपीलकर्ता निःसंदेह सह-उत्पादक विद्युत संयंत्रों के संबंध में विद्युत ऊर्जा के विक्रय/उपभोग पर कर भुगतान से छूट का लाभ प्राप्त कर रहे थे। [कंडिका 135] [1010-ए, बी]

6.2. सामान्य प्रतिषेध से भिन्न, वचनबद्ध प्रतिषेध किसी वाद-कारण को जन्म देता है। यह निर्विवाद रूप से एक अधिकार सृजित करता है तथा साम्य के सिद्धांत पर भी कार्य करता है। तथापि इसका प्रयोग संवैधानिक अथवा वैधानिक उपबंधों के विरुद्ध विधि की दृष्टि में अनुमेय नहीं है। [कंडिका 136] [1010-सी]

6.3. वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत किसी अधिकार का संरक्षण भी करता है। अधिकार का संरक्षण तब माना जाएगा जब उसे स्पष्ट रूप से समाप्त न किया गया हो, बल्कि वास्तव में उसका संरक्षण किया गया हो। अपीलकर्ताओं के मामले में वचनबद्ध प्रतिषेध के सिद्धांत की प्रयोज्यता को देखते हुए उनका अधिकार समाप्त नहीं हुआ है। इसलिए, यद्यपि विवादित अधिनियम की योजना 1939 तथा 1962 के अधिनियमों से भिन्न है और 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) में प्रयुक्त भाषा भी भिन्न है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि

अपीलकर्ताओं का अधिकार नष्ट हो गया है। वस्तुतः विधायिका ने स्वीकार किया है कि ऐसा अधिकार अपीलकर्ताओं में विद्यमान है। [कंडिकाएँ 144 एवं 145] [1014-बी, सी]

ए.पी. स्टील री-रोलिंग मिल लिमिटेड बनाम केरल राज्य एवं अन्य, **(2006) 14 स्केल 162**; *बिहार राज्य एवं अन्य बनाम प्रोजेक्ट उच्च विद्या शिक्षक संघ एवं अन्य,* **(2006) 2 एससीसी 545**; *महाबीर वेजिटेबल ऑयल्स (प्रा.) लिमिटेड एवं एक अन्य बनाम हरियाणा राज्य एवं अन्य*, **[2006] 3 एससीसी 620**; *पंजाब राज्य बनाम नेस्ले इंडिया लिमिटेड एवं एक अन्य*, **[2004] 6 एससीसी 465**; *मोतीलाल पदमपत शुगर मिल्स कंपनी लिमिटेड बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* **[1979] 2 एससीसी 409**; *कसिंका ट्रेडिंग बनाम भारत संघ*, **[1995] 1 एससीसी 274**; *एम.आर.एफ. लिमिटेड, कोट्टायम बनाम सहायक आयुक्त (निर्धारण), विक्रय कर एवं अन्य,* **[2006] 8 एससीसी 702; तथा** *मदन मोहन पाठक एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य,* **[1978] 2 एससीसी 50, का उल्लेख किया गया।**

7. वैध अपेक्षा का सिद्धांत अब नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का एक भाग माना जाता है। यदि विद्यमान परिस्थितियों के कारण किसी पक्ष को यह समझने का आधार प्राप्त होता है कि दूसरा पक्ष नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पालन किए बिना उसे प्राप्त लाभ से वंचित नहीं करेगा, तो उक्त सिद्धांत लागू होगा। विधायिका को निःसंदेह विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है, किंतु जहाँ विधि स्वयं विद्यमान अधिकार को मान्यता देती है और उसे न तो स्पष्ट रूप से तथा न ही आवश्यक निहितार्थ द्वारा समाप्त करती है, वहाँ सारभूत लाभ की वैध अपेक्षा का सिद्धांत लागू माना जा सकता है। [कंडिका 147] [1014-एफ, जी]

आर बनाम नॉर्थ एंड ईस्ट डेवॉन हेल्थ अथॉरिटी, **एक पक्षीय** *कफलन*, **(2001) 1 क्यूबी 213**; *लोर्ड वूल्फ; आर बनाम गृह सचिव, एक पक्षीय हिंडले*, **(2001) 1 एसी 410**; *आर (बीबी के आवेदन पर) बनाम लंदन बरो ऑफ न्यूहैम,* **(2001) ईडब्ल्यूसीए सिव 607; तथा** *बैरेट बनाम हॉवर्ड,* **(2000) एफसीए 190, का उल्लेख किया गया।**

8. किसी माह में अधिकतम मांग का अर्थ है उपभोक्ता के आपूर्ति-बिंदु पर किसी भी लगातार तीस मिनट की अवधि के दौरान प्रदत्त ऊर्जा का सर्वोच्च मान। अतः यह तर्क सही नहीं है कि वास्तविक उपभोग और अधिकतम मांग के बीच कोई भेद नहीं है। उच्च न्यायालय ने स्वयं निम्न-दाब उपभोग और उच्च-दाब उपभोग के बीच अंतर को स्वीकार किया है। वास्तव में ऐसी परिभाषा विद्यमान है। इसलिए विपरीत व्याख्या स्वीकार्य नहीं होगी। [कंडिका 158] [1020-बी, सी]

9.1. यह संभव है कि विद्युत को "माल" माना गया हो, किंतु इसका विचार भारत के संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड (12) में निहित "माल" की परिभाषा के आलोक में किया जाना चाहिए। जब इस न्यायालय ने विक्रय कर तथा अन्य कराधान विधियों के प्रयोजनार्थ विद्युत को "माल" माना, तो उसका भारत के संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची-II की प्रविष्टि 53 की व्याख्या से कोई संबंध नहीं है। आपूर्ति का अर्थ विक्रय नहीं है। और उससे भी अधिक, उसका अर्थ उपभोग भी नहीं है। माल मूर्त अथवा अमूर्त संपत्ति दोनों हो सकता है। वह तभी माल कहलाएगा जब उसमें निम्नलिखित गुण विद्यमान हों— (क) उपयोगिता; (ख) क्रय-विक्रय योग्य होना; तथा (ग) संचारित, हस्तांतरित, परिदत्त, संग्रहित तथा आधिपत्य में रखे जाने की क्षमता। [कंडिकाएँ 164, 165 एवं 166] [1023-ई, एफ, जी]

9.2. इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अधिकतम मांग वास्तविक विद्युत आपूर्ति से भिन्न किसी अवधारणा को अभिव्यक्त करती है, उस पर किसी कर के अधिरोपण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। [कंडिका 169] [1025-एफ, जी]

मनीष माहेश्वरी बनाम सहायक आयकर आयुक्त एवं एक अन्य, (2007) 3 स्केल 627, पर अवलंबन किया गया।

मद्रास राज्य बनाम गैनन डंकरले एण्ड कंपनी (मद्रास) लिमिटेड, (1959) एससीआर 379; *भारत संचार निगम लिमिटेड एवं एक अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य,* (2006) 3

एससीसी 1; तथा *मेसर्स नॉर्दर्न इंडिया आयरन एण्ड स्टील कंपनी बनाम हरियाणा राज्य एवं अन्य,* **(1976) 2 एससीसी 877, का उल्लेख किया गया**।

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार : दीवानी अपील संख्या 2551 वर्ष 2007।

मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा वाद अपील संख्या 384 वर्ष 2004 में दिनांक 13.07.2006 को पारित निर्णय एवं आदेश के विरुद्ध।

साथ में

दीवानी अपील संख्याएँ 2552-2651 वर्ष 2007।

आर.एफ. नरीमन, ए.आर.एल. सुंदरासन, ए.के. गांगुली, विजय नारायण, विजय नारायणन, के.के. वेणुगोपाल, वरिष्ठ अधिवक्ता, पी.एच. पारिख, ई.आर. कुमार, सनंद रामकृष्णन, नितिन ठुकराल, रुक्मिणी बोबडे (पी.एच. पारिख एण्ड कंपनी की ओर से), कृष्ण श्रीनिवासन, समीर पारिख, नितिन ठुकराल, के.के. मणि, वी.एम. शिवकुमार, मयूर आर. शाह, बीनू टांटा, रोहिणी मूसा, वी. बालाजी, पी.एन. रामलिंगम, विजय के. जैन, के.के. सैंथिलवलन, राकेश के. शर्मा, के.वी. विश्वनाथन, बी. रघुनाथ, वी. मोहना, आर. नेडुमरण, विजय कुमार, एन.एल. राजाह, दयान कृष्णन, निखिल नैय्यर, गौतम नारायण, पी.बी. सुरेश, विपिन नायर, अमित ढींगरा (टेम्पल लॉ फर्म की ओर से), श्रीकला गुरुकृष्ण कुमार, गौरी घुमान तथा सेंथिल जगदीशन, अपीलकर्ताओं की ओर से।

टी.आर. अंध्यारुजिना, वी. कृष्णमूर्ति, वरिष्ठ अधिवक्ता, टी. हरिश कुमार तथा प्रशांत पी., उत्तरदाताओं की ओर से।

न्यायालय का निर्णय जिनके द्वारा सुनाया गया

एस.बी. सिन्हा, न्यायमूर्ति 1. अनुमति प्रदान की जाती है।

प्रस्तावना

2. इन अपीलों में तमिलनाडु विद्युत उपभोग अथवा विक्रय कर अधिनियम, 2003 (संक्षेप में "2003 का अधिनियम") की वैधता तथा/अथवा उसके अनुप्रयोग का प्रश्न

विचाराधीन है। ये अपीलें मद्रास उच्च न्यायालय की खंडपीठ द्वारा दिनांक 13.07.2006 को पारित एक सामान्य निर्णय से उत्पन्न हुई हैं।

विधायी पृष्ठभूमि

3. भारत में केंद्रीय तथा प्रांतीय विधानमंडलों की विधायी क्षमता का प्रथम बार उपबंध भारत शासन अधिनियम, 1935 (संक्षेप में "1935 का अधिनियम") द्वारा किया गया था। 1935 के अधिनियम की सातवीं अनुसूची की सूची-2 की मद 48-बी में विद्युत के उपभोग अथवा विक्रय पर कर लगाने का उपबंध था, परंतु यह 1935 के अधिनियम की धारा 154-क के अधीन था, जो निम्नवत् है—

"154-क. जहाँ तक संघीय प्राधिकरण अन्यथा उपबंध न करे, किसी प्रांत की विधि अथवा किसी संघबद्ध राज्य की विधि विद्युत के उपभोग या विक्रय पर (चाहे वह सरकार अथवा अन्य किसी व्यक्ति द्वारा उत्पादित की गई हो) ऐसा कोई कर अधिरोपित नहीं करेगी और न ही उसके अधिरोपण को अधिकृत करेगी, यदि वह विद्युत—

(क) संघीय सरकार द्वारा उपभोग की जाती हो अथवा संघीय सरकार को उसके उपभोग हेतु विक्रय की जाती हो; अथवा

(ख) किसी संघीय रेल के निर्माण, अनुरक्षण अथवा संचालन में संघीय रेल प्राधिकरण अथवा उसका संचालन करने वाली किसी रेलवे कंपनी द्वारा उपभोग की जाती हो, अथवा ऐसे निर्माण, अनुरक्षण अथवा संचालन के प्रयोजन से उक्त प्राधिकरण अथवा ऐसी रेलवे कंपनी को विक्रय की जाती हो।

और विद्युत के विक्रय पर कर अधिरोपित करने अथवा उसके अधिरोपण को अधिकृत करने वाली कोई भी ऐसी विधि यह सुनिश्चित करेगी कि संघीय सरकार अथवा संघीय रेल प्राधिकरण अथवा ऐसी रेलवे कंपनी को विक्रय की गई विद्युत का मूल्य, कर की

राशि के बराबर कम होगा, बनिस्बत उन अन्य उपभोक्ताओं से वसूल किए जाने वाले मूल्य के जो पर्याप्त मात्रा में विद्युत का उपभोग करते हैं।"

4. 1935 के अधिनियम में सातवीं अनुसूची की मद 48-बी के समान कोई अन्य उपबंध नहीं था। भारत के संविधान के प्रवर्तन के पश्चात् "विद्युत" को सातवीं अनुसूची की सूची III में रखा गया। तथापि, विद्युत के उपभोग अथवा विक्रय पर कराधान का विषय संविधान की सातवीं अनुसूची की राज्य सूची की प्रविष्टि 53 के अधीन रखा गया।

वैधानिक उपबंध

5. तत्कालीन मद्रास राज्य ने 1935 के अधिनियम की सातवीं अनुसूची की प्रविष्टि 48-बी के अधीन तमिलनाडु विद्युत शुल्क अधिनियम, 1939 (संक्षेप में "1939 का अधिनियम") अधिनियमित किया, जिसके द्वारा तमिलनाडु राज्य में अनुज्ञप्तिधारियों द्वारा विद्युत ऊर्जा के कुछ विक्रयों तथा उपभोग पर शुल्क अधिरोपित किया गया। उस समय अनुज्ञप्तियाँ भारतीय विद्युत अधिनियम, 1910 (संक्षेप में "1910 का अधिनियम") के अधीन प्रदान की जाती थीं। 1910 के अधिनियम की धारा 3 निम्नवत् है :

"3. अनुज्ञप्तियों का प्रदान किया जाना— (1) राज्य सरकार, विहित प्ररूप में किए गए आवेदन तथा विहित शुल्क (यदि कोई हो) के भुगतान पर, राज्य विद्युत मंडल से परामर्श करने के पश्चात्, किसी व्यक्ति को किसी विनिर्दिष्ट क्षेत्र में ऊर्जा की आपूर्ति करने तथा ऊर्जा के वहन और पारेषण के लिए विद्युत आपूर्ति लाइनों को बिछाने या स्थापित करने हेतु अनुज्ञप्ति प्रदान कर सकती है—

(क) जहाँ आपूर्ति की जाने वाली ऊर्जा ऐसे क्षेत्र के बाहर उत्पन्न की जानी हो, वहाँ उस क्षेत्र के बाहर स्थित उत्पादन केंद्र से उस क्षेत्र की सीमा तक; अथवा

(ख) जहाँ ऊर्जा को ऐसे क्षेत्र के भीतर किसी स्थान से उसी क्षेत्र के किसी अन्य स्थान तक, बीच में स्थित ऐसे क्षेत्र को पार करते हुए जो उक्त क्षेत्र में सम्मिलित न हो, वहन अथवा पारेषित किया जाना हो।

(2) प्रत्येक ऐसी अनुज्ञप्ति तथा उसके प्रदान किए जाने के संबंध में निम्नलिखित उपबंध प्रभावी होंगे, अर्थात्—

(क) इस भाग के अधीन अनुज्ञप्ति के लिए आवेदन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने आवेदन की सूचना विहित रीति से तथा विहित विवरणों सहित प्रकाशित करेगा, और अनुज्ञप्ति तब तक प्रदान नहीं की जाएगी—

(i) जब तक राज्य सरकार को प्राप्त सभी आपत्तियों पर विचार न कर लिया गया हो: परंतु कोई आपत्ति तब तक विचारार्थ ग्रहण नहीं की जाएगी जब तक वह उक्त सूचना के प्रथम प्रकाशन की तिथि से तीन माह की अवधि समाप्त होने से पूर्व प्राप्त न हो जाए; तथा

(ii) यदि आवेदन ऐसे क्षेत्र के लिए हो जिसमें कोई छावनी, वायुक्षेत्र, दुर्ग, शस्त्रागार, गोदी, शिविर अथवा प्रतिरक्षा प्रयोजनों के लिए सरकार के आधिपत्य में कोई भवन या स्थान संपूर्णतः या आंशिक रूप से सम्मिलित हो, तब तक नहीं, जब तक राज्य सरकार यह सुनिश्चित न कर ले कि भारत सरकार को अनुज्ञप्ति प्रदान किए जाने पर कोई आपत्ति नहीं है;

(ख) जहाँ किसी स्थानीय प्राधिकारी से कोई आपत्ति प्राप्त होती है, वहाँ राज्य सरकार यदि उसकी दृष्टि में वह आपत्ति अपर्याप्त हो, तो अपने कारण लिखित रूप में अभिलिखित करेगी तथा उन कारणों को संबंधित स्थानीय प्राधिकारी को सूचित करेगी;

(ग) इस भाग के अधीन अनुज्ञप्ति के लिए कोई आवेदन किसी स्थानीय प्राधिकारी द्वारा तब तक नहीं किया जाएगा जब तक वह ऐसी बैठक में पारित संकल्प के अनुसरण में न हो, जिसकी एक माह पूर्व सूचना तथा उसके उद्देश्य की सूचना उसी प्रकार दी गई हो जिस प्रकार उस स्थानीय प्राधिकारी की बैठकों की सूचनाएँ सामान्यतः दी जाती हैं;

(घ) इस भाग के अधीन प्रदत्त अनुज्ञप्ति—

(i) ऊर्जा की आपूर्ति किन सीमाओं के भीतर तथा किन शर्तों के अधीन अनिवार्य अथवा वैकल्पिक होगी, और सामान्यतः ऐसे अन्य विषयों के संबंध में, जिन्हें राज्य सरकार उपयुक्त समझे, शर्तें विनिर्दिष्ट कर सकती है; तथा

(ii) उन मामलों को छोड़कर जिनमें धारा 10 के खंड (ख) के अधीन यह घोषित किया गया हो कि धारा 5 तथा धारा 6 अथवा उनमें से कोई एक लागू नहीं होगी, प्रत्येक अनुज्ञप्तिधारी यह घोषित करेगा कि उसके उपक्रम से संबंधित उपयोग हेतु कोई उत्पादन केंद्र उपक्रम का भाग माना जाएगा अथवा नहीं, जिससे धारा 5 अथवा धारा 6 के अधीन क्रय किया जा सके;

(ङ) इस भाग के अधीन किसी प्रयोजन के लिए अनुज्ञप्ति का प्रदान किया जाना उसी आपूर्ति क्षेत्र में समान प्रयोजन हेतु किसी अन्य व्यक्ति को अनुज्ञप्ति प्रदान किए जाने में किसी प्रकार की बाधा या प्रतिबंध उत्पन्न नहीं करेगा;

(च) अनुसूची में निहित उपबंध प्रत्येक ऐसी अनुज्ञप्ति का अभिन्न अंग माने जाएंगे तथा उसका भाग होंगे, सिवाय उन स्थितियों के जहाँ उन्हें अनुज्ञप्ति द्वारा स्पष्ट रूप से जोड़ा, परिवर्तित अथवा अपवर्जित किया गया हो, और ऐसे किसी जोड़, परिवर्तन अथवा अपवाद के अधीन, जिन्हें राज्य सरकार करने के लिए एतद्द्वारा सशक्त है, वे अनुज्ञप्ति द्वारा प्राधिकृत उपक्रम पर लागू होंगे :

परंतु जहाँ अनुसूची के खंड 9 के उपबंधों के अनुसार अन्य अनुज्ञप्तिधारियों को उनके वितरण हेतु ऊर्जा की आपूर्ति करने के लिए अनुज्ञप्ति प्रदान की गई हो, वहाँ ऐसी आपूर्ति से संबंधित सीमा तक अनुसूची के खंड 4, 5, 6, 7, 8 तथा 12 के उपबंध उस अनुज्ञप्ति में समाविष्ट नहीं माने जाएंगे।"

6. इस अधिनियम में किसी प्रकार की छूट का उपबंध नहीं था। तथापि, भारत के संविधान के प्रवर्तन के पश्चात् यह अधिनियम भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 के उपबंधों के अधीन प्रभावी रहा।

7. भारत के संविधान का अनुच्छेद 288 निम्नवत् हैः

"(1) जहाँ तक राष्ट्रपति आदेश द्वारा अन्यथा उपबंध न करें, संविधान के प्रारम्भ से ठीक पूर्व प्रवृत्त किसी राज्य की कोई विधि, किसी ऐसी प्राधिकरण द्वारा, जो किसी विद्यमान विधि अथवा संसद द्वारा निर्मित किसी ऐसी विधि के अधीन स्थापित की गई हो जो अंतर्राज्यीय नदी अथवा नदी-घाटी के विनियमन या विकास के लिए बनाई गई हो, संग्रहित, उत्पन्न, उपभोगित, वितरित अथवा विक्रय की गई किसी जल या विद्युत के संबंध में किसी कर का अधिरोपण नहीं करेगी और न ही उसके अधिरोपण को अधिकृत करेगी।

स्पष्टीकरण— इस खंड में 'प्रवृत्त राज्य विधि' से अभिप्राय ऐसी राज्य विधि से भी है जो संविधान के प्रारम्भ से पूर्व पारित या निर्मित की गई हो और पूर्व में निरसित न की गई हो, चाहे वह या उसका कोई भाग उस समय पूर्णतः अथवा किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रवर्तन में न हो।

(2) किसी राज्य का विधानमंडल विधि द्वारा उपखंड (1) में उल्लिखित किसी कर का अधिरोपण कर सकता है अथवा उसके अधिरोपण को अधिकृत कर सकता है, परंतु ऐसी कोई विधि तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित किए जाने के पश्चात् उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो जाए; और यदि ऐसी विधि उस कर की दरों अथवा अन्य घटनाओं के निर्धारण के लिए किसी प्राधिकरण द्वारा बनाए जाने वाले नियमों अथवा आदेशों का उपबंध करती है, तो ऐसी विधि में यह उपबंध होगा कि ऐसे किसी नियम अथवा आदेश के निर्माण से पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व सहमति प्राप्त की जाएगी।"

8. 1939 के अधिनियम की धारा 3 के अवलोकन मात्र से स्पष्ट होता है कि अनुज्ञप्तिधारियों द्वारा विद्युत ऊर्जा के विक्रय पर कर अधिरोपित किया गया था। अतः 1939 के अधिनियम में विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर कर अधिरोपण का कोई उपबंध नहीं था।

9. भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची की प्रविष्टि 38 के अधीन प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए संसद ने विद्युत (आपूर्ति) अधिनियम, 1948 (संक्षेप में "1948 का अधिनियम") अधिनियमित किया। उसकी धारा 5 के अनुसार प्रत्येक राज्य पर राज्य विद्युत समिति की स्थापना का दायित्व आरोपित किया गया। 1948 के अधिनियम की धारा 12 ऐसे बोर्डों के निगमित स्वरूप का उपबंध करती है।

10. वर्ष 1962 में तमिलनाडु राज्य ने मद्रास राज्य में विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर कर अधिरोपित करने के उद्देश्य से तमिलनाडु विद्युत (उपभोग पर कराधान) अधिनियम, 1962 (अधिनियम संख्या 4, वर्ष 1962) (संक्षेप में "1962 का अधिनियम") अधिनियमित किया।

11. 1962 के अधिनियम की धारा 2(1) तथा धारा 2(3) में "उपभोक्ता" तथा "ऊर्जा-गहन उद्योग" को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया हैः

> "(1) 'उपभोक्ता' तथा उसके व्याकरणिक रूपों और समजात अभिव्यक्तियों में ऐसा प्रत्येक व्यक्ति सम्मिलित है जो ऊर्जा का उपभोग करता है, चाहे वह ऊर्जा स्वयं उसके द्वारा उत्पन्न की गई हो अथवा उसे आपूर्ति की गई हो।
>
> (3) 'ऊर्जा-गहन उद्योग' से अभिप्राय ऐसे उद्योगों से है जिनमें विनिर्माण अथवा उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त ऊर्जा का मूल्य संबंधित उद्योग के मुख्य उत्पाद के विनिर्माण अथवा उत्पादन की कुल लागत का 15 प्रतिशत से अधिक हो, तथा इसमें निम्नलिखित उत्पादों का विनिर्माण अथवा उत्पादन करने वाले उद्योग सम्मिलित होंगे, अर्थात्—
>
> (i) एल्यूमिनियम;
>
> (ii) विरंजक चूर्ण;

(iii) कैल्शियम कार्बाइड;

(iv) कास्टिक सोडा;

(v) कृत्रिम रत्न।"

12. 1962 के अधिनियम की धारा 3 ऊर्जा के उपभोग पर कर अधिरोपित करने का उपबंध करती है, जिसे उसमें "विद्युत कर" कहा गया है, और जिसकी गणना उपभोक्ता द्वारा उपभोगित ऊर्जा के मूल्य के प्रतिशत के रूप में की जाती है। धारा 3-क ऊर्जा के उपभोग पर अतिरिक्त कर अधिरोपित करने का उपबंध करती है, जिसकी गणना उपभोक्ता द्वारा उपभोगित ऊर्जा के मूल्य के चार प्रतिशत की दर से की जाती है। तथापि, उससे संलग्न परन्तुक, *अन्य बातों के साथ*, ऐसे व्यक्ति (अनुज्ञप्तिधारी को छोड़कर) को अतिरिक्त कर के अधिरोपण से छूट प्रदान करता है जो स्वयं द्वारा उत्पन्न ऊर्जा का उपभोग करता है।

13. 1962 के अधिनियम की धारा 12 कर से छूट का उपबंध निम्न प्रकार करती हैः

"12. कर से छूट— (1) जहाँ उच्च-दाब आपूर्ति के अंतर्गत ऊर्जा का उपभोग उद्योग (विकास एवं विनियमन) अधिनियम, 1951 (केंद्रीय अधिनियम संख्या 65, वर्ष 1951) के अधीन अनुज्ञप्तिप्राप्त किसी औद्योगिक उपक्रम में उसके मुख्य उत्पाद के विनिर्माण अथवा उत्पादन की प्रक्रिया में किया जाता है, वहाँ उस उपक्रम में मुख्य उत्पाद के विनिर्माण अथवा उत्पादन के प्रारम्भ की तिथि से तीन वर्ष की अवधि तक उस प्रकार उपभोगित ऊर्जा पर कोई विद्युत कर देय नहीं होगा।

(2) उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए, यदि मुख्य उत्पाद के विनिर्माण अथवा उत्पादन के प्रारम्भ की तिथि के संबंध में कोई प्रश्न उत्पन्न होता है, तो वह प्रश्न विहित अधिकारी द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसार विनिर्णीत किया जाएगा और उसका निर्णय अंतिम होगा।"

14. तथापि, 1962 के अधिनियम की धारा 13 सरकार को अधिसूचना द्वारा छूट प्रदान करने तथा प्रतिबंध लगाने का अधिकार निम्न प्रकार प्रदान करती हैः

"13. *छूट एवं दरों में कमी की अधिसूचना जारी करने की सरकार की शक्ति-* (1) सरकार अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम के अधीन देय विद्युत कर के संबंध में किसी विनिर्दिष्ट वर्ग के व्यक्तियों को, निम्नलिखित में से किसी एक अथवा सभी बातों को ध्यान में रखते हुए, छूट अथवा कर-दर में कमी प्रदान कर सकती है—

(क) ऐसे व्यक्तियों के वर्ग द्वारा संचालित व्यवसाय अथवा उद्योग की प्रकृति;

(ख) किसी औद्योगिक उपक्रम में मुख्य उत्पाद के विनिर्माण अथवा उत्पादन की कुल लागत की तुलना में उपभोगित ऊर्जा का मूल्य, यदि वह उपक्रम ऐसे व्यक्तियों के वर्ग के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में हो;

(ग) ऐसी अन्य बातें जो विहित की जाएँ।

(2) उपधारा (1) के अधीन अधिसूचित विद्युत कर से कोई छूट अथवा विद्युत कर की दर में कोई कमी, अधिसूचना में विनिर्दिष्ट प्रतिबंधों तथा शर्तों के अधीन हो सकती है।

(3) सरकार अधिसूचना द्वारा उपधारा (1) के अधीन जारी किसी अधिसूचना को निरस्त अथवा परिवर्तित कर सकती है।

15. 1962 के अधिनियम की धारा 14 में यह उपबंध किया गया था कि उक्त अधिनियम, 1939 के अधिनियम के अतिरिक्त होगा और उसके प्रतिकूल नहीं माना जाएगा। 1962 के अधिनियम की धारा 18 में भी यह उपबंध था कि वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 के अधीन रहेगा।

16. 1939 का अधिनियम तथा 1962 का अधिनियम, 2003 के अधिनियम द्वारा निरसित कर दिए गए। उल्लेखनीय है कि 2003 का अधिनियम विद्युत के उपभोग अथवा विक्रय पर कर के अधिरोपण को समेकित एवं संशोधित करने के लिए नहीं, बल्कि उसे समेकित एवं युक्तिसंगत बनाने के लिए अधिनियमित किया गया था।

17. 2003 के अधिनियम की धारा 2 में "स्व-उपयोग उत्पादन संयंत्र", "उपभोक्ता", "उत्पादन कंपनी" तथा "टैरिफ" को निम्नानुसार परिभाषित किया गया है :

"(2) 'स्व-उपयोग उत्पादन संयंत्र' से अभिप्राय ऐसे विद्युत संयंत्र से है जिसे किसी व्यक्ति, व्यक्तियों के संघ अथवा किसी सहकारी समिति द्वारा मुख्यतः अपने स्वयं के उपयोग अथवा अपने सदस्यों के उपयोग के लिए विद्युत उत्पन्न करने हेतु स्थापित किया गया हो, तथा इसमें ऐसे विद्युत संयंत्र भी सम्मिलित हैं जिन्हें इस प्रकार उत्पन्न अधिशेष विद्युत विक्रय करने की अनुमति हो;

(5) 'उपभोक्ता', उसके व्याकरणिक रूपों तथा समजात अभिव्यक्तियों सहित, से अभिप्राय ऐसे किसी व्यक्ति से है जिसे भारतीय विद्युत अधिनियम, 1910 अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन जनता को विद्युत आपूर्ति करने के व्यवसाय में संलग्न किसी अनुज्ञप्तिधारी, सरकार अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा शुल्क लेकर, निःशुल्क अथवा अन्यथा विद्युत आपूर्ति की जाती हो, तथा इसमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं—

(i) ऐसा अनुज्ञप्तिधारी जो स्वयं द्वारा उत्पन्न अथवा किसी अन्य अनुज्ञप्तिधारी द्वारा आपूर्ति की गई विद्युत का उपभोग करता हो; तथा

(ii) कोई अन्य व्यक्ति जो स्वयं द्वारा उत्पन्न विद्युत का वास्तविक उपयोग करता हो।

स्पष्टीकरण–I : जहाँ कोई अनुज्ञप्तिधारी स्वयं द्वारा उत्पन्न अथवा उसे आपूर्ति की गई विद्युत का उपभोग करता है, वहाँ वह केवल उस उपभोगित विद्युत के संबंध में उपभोक्ता माना जाएगा।

स्पष्टीकरण–II : जहाँ कोई अनुज्ञप्तिधारी अथवा अन्य व्यक्ति उत्पादन, पारेषण तथा वितरण प्रणाली के निर्माण, अनुरक्षण एवं संचालन से संबंधित प्रयोजनों हेतु ऊर्जा

का उपभोग करता है, वहाँ वह उस उपभोगित ऊर्जा के संबंध में उपभोक्ता नहीं माना जाएगा।

(9) 'उत्पादन कंपनी' से अभिप्राय ऐसी किसी कंपनी, निगमित निकाय, संघ, व्यक्तियों के समूह अथवा कृत्रिम विधिक व्यक्ति से है, चाहे वह निगमित हो अथवा नहीं, जो किसी उत्पादन केंद्र का स्वामी हो, उसका संचालन करता हो अथवा उसका अनुरक्षण करता हो;

(14) 'टैरिफ' से अभिप्राय राज्य में अनुज्ञप्तिधारी द्वारा आपूर्ति की गई विद्युत के उपभोग पर प्रभारित की जाने वाली टैरिफ-दर से है, जिसे तमिलनाडु विद्युत विनियामक आयोग द्वारा निर्धारित किया गया हो।"

18. 2003 के अधिनियम की धारा 3 आरोपण संबंधी उपबंध है, जिसके अनुसार प्रत्येक अनुज्ञप्तिधारी तथा प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो अनुज्ञप्तिधारी नहीं है, विहित रीति से प्रत्येक माह सरकार को पूर्ववर्ती माह के दौरान विक्रयित अथवा उपभोगित विद्युत पर निर्दिष्ट दर से कर का भुगतान करेगा। तथापि, धारा 4 में इसके होते हुए भी प्रकार का उपबंध है, जिसके अनुसार धारा 3 के अधीन किसी अनुज्ञप्तिधारी द्वारा उसमें नामित व्यक्तियों को विद्युत के विक्रय पर कोई विद्युत कर देय नहीं होगा। यह उपबंध 1939 के अधिनियम के लगभग समान है। 2003 का अधिनियम देय विद्युत शुल्क के निर्धारण हेतु पूर्ण तंत्र भी प्रदान करता है तथा विद्युत कर के निर्धारण आदेश के विरुद्ध अपील का भी प्रावधान करता है।

19. 2003 के अधिनियम की धारा 14 सामान्य छूट का प्रावधान करती है, जो निम्नानुसार है :

"कर से छूट एवं कर-दर में कमी— सरकार अधिसूचना द्वारा, इस अधिनियम के अधीन देय विद्युत कर के संबंध में, उपभोग हेतु विक्रय की गई विद्युत पर निम्नलिखित के पक्ष में अथवा उनके संबंध में छूट प्रदान कर सकती है अथवा कर-दर में कमी कर सकती है—

(i) कोई संस्था अथवा व्यक्तियों का कोई वर्ग;

(ii) सार्वजनिक उपासना-स्थल, सार्वजनिक दफन-स्थल, सार्वजनिक शवदाह-स्थल अथवा मृतकों के निस्तारण हेतु कोई अन्य स्थान;

(iii) ऐसा परिसर जिसे राज्य सरकार द्वारा पूर्णतः सार्वजनिक परोपकार के प्रयोजनों हेतु उपयोग में लाया जाना घोषित किया गया हो;

(iv) कोई जलयान, चाहे वह समुद्री हो अथवा अंतर्देशीय।"

20. निरसन तथा संरक्षण संबंधी उपबंध इसकी धारा 20 में निहित है।

21. 2003 के अधिनियम की धाराएँ 20 तथा 21 निम्नवत् हैं :

"20(1) — तमिलनाडु विद्युत शुल्क अधिनियम, 1939 तथा तमिलनाडु विद्युत (उपभोग पर कराधान) अधिनियम, 1962 एतद्द्वारा निरसित किए जाते हैं।

परंतु ऐसा निरसन निम्नलिखित को प्रभावित नहीं करेगा—

(क) उक्त अधिनियमों का पूर्व प्रवर्तन अथवा उनके अधीन विधिपूर्वक किया गया या सहन किया गया कोई कार्य;

(ख) उक्त अधिनियमों के अधीन अर्जित, उपार्जित अथवा वहन किया गया कोई अधिकार, विशेषाधिकार, दायित्व अथवा उत्तरदायित्व;

(ग) उक्त अधिनियमों के विरुद्ध किए गए किसी अपराध के संबंध में उपगत कोई शास्ति, समपहरण अथवा दंड;

(घ) उपर्युक्त किसी अधिकार, विशेषाधिकार, दायित्व, उत्तरदायित्व, समपहरण अथवा दंड के संबंध में कोई अन्वेषण, विधिक कार्यवाही (जिसमें निर्धारण कार्यवाही भी सम्मिलित है) अथवा उपचार; तथा ऐसा कोई अन्वेषण, विधिक कार्यवाही अथवा उपचार आरंभ, जारी अथवा प्रवर्तित किया जा सकेगा और ऐसी कोई शास्ति, समपहरण अथवा दंड अधिरोपित किया जा सकेगा मानो यह अधिनियम पारित ही न हुआ हो।

(2) ऐसे निरसन के होते हुए भी—

(क) निरसित अधिनियमों के अधीन किया गया अथवा किया गया प्रतीत होने वाला कोई कार्य, या की गई अथवा जारी की गई कोई कार्रवाई, जिसमें कोई नियम, अधिसूचना, निरीक्षण आदेश, नोटिस अथवा दिया गया कोई निर्देश सम्मिलित है, जहाँ तक वह इस अधिनियम के उपबंधों से असंगत नहीं है, इस अधिनियम के तत्समकक्ष उपबंधों के अधीन किया गया अथवा लिया गया माना जाएगा।

(ख) निरसित तमिलनाडु विद्युत शुल्क अधिनियम, 1939 तथा उसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व अधिरोपित किन्तु अप्राप्त शुल्क की वसूली, निरसित अधिनियम तथा उसके अधीन बनाए गए नियमों में उपबंधित रीति से की जा सकेगी।

(ग) निरसित तमिलनाडु विद्युत (उपभोग पर कराधान) अधिनियम, 1962 तथा उसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व अधिरोपित किन्तु अप्राप्त कर की वसूली, निरसित अधिनियम तथा उसके अधीन बनाए गए नियमों में उपबंधित रीति से की जा सकेगी।"

21. यह अधिनियम भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 के उपबंधों के अधीन प्रभावी होगा।"

रिट याचिकाएँ

22. 2003 के अधिनियम के उपबंधों की वैधता तथा/अथवा उनकी प्रयोज्यता, उत्पादन कंपनियों के संबंध में तथा तमिलनाडु विद्युत मंडल से विद्युत ऊर्जा क्रय करने वाले उपभोक्ताओं के संबंध में, मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अनेक रिट याचिकाओं द्वारा चुनौती दी गई। इस विषय की सुनवाई उच्च न्यायालय की खंडपीठ द्वारा की गई। दिनांक 13.07.2006 के निर्णय एवं आदेश द्वारा खंडपीठ ने रिट याचिकाओं को निरस्त कर दिया।

उच्च न्यायालय का निर्णय

23. उच्च न्यायालय ने अपने समक्ष उठाए गए सात तर्कों का संज्ञान लिया। उसने सभी मुद्दों का निर्णय रिट याचिकाकर्ताओं के विरुद्ध दिया। हमारे समक्ष केवल तर्क सं. 1, 3, 4, 5 तथा 7 पर ही बल दिया गया है।

24. प्रारंभ में ही उन तर्कों का उल्लेख किया जा सकता है :

"(1) विद्युत के उपभोग अथवा विक्रय पर कर अधिरोपित करने वाला तमिलनाडु अधिनियम 12, 2003 भारत के संविधान के अनुच्छेद 288(2) के आलोक में राष्ट्रपति की अनुमति के अभाव में अवैध है।

(2) ***

(3) आक्षेपित अधिनियम विद्युत विनियामक आयोग अधिनियम, 1998 की धारा 29 के प्रतिकूल है। केंद्रीय अधिनियम, 1998 ने विद्युत टैरिफ निर्धारित करने की शक्ति आयोग में निहित की है। इस प्रकार निर्धारित टैरिफ में ऊर्जा के लिए देय संपूर्ण मूल्य सम्मिलित माना जाना चाहिए। अतः आक्षेपित राज्य अधिनियम, जो विद्युत के विक्रय अथवा उपभोग पर कर अधिरोपित करता है, केंद्रीय विधि के प्रतिकूल है। चूँकि राज्य अधिनियम को राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त नहीं हुई है, इसलिए वह संविधान के अनुच्छेद 254(2) द्वारा संरक्षित नहीं है। अतः वह विधि की दृष्टि में अवैध है।

(4) तमिलनाडु विद्युत (उपभोग पर कराधान) अधिनियम, 1962 के अधीन कुछ अपीलकर्ताओं को स्वयं उत्पन्न ऊर्जा के उपभोग पर कर के भुगतान से छूट प्रदान की गई थी। यद्यपि 1962 का यह अधिनियम वर्तमान अधिनियम द्वारा निरसित कर दिया गया है, तथापि आक्षेपित अधिनियम की धारा 20(2)(क) के आलोक में उनके अधिकार संरक्षित हैं। अतः वे कर भुगतान से छूट का लाभ प्राप्त करते रहने के अधिकारी हैं।

(5) ...

(6) ...

(7) उपभोग पर कर वास्तविक उपभोग पर आधारित होना चाहिए। इसमें अधिकतम/स्वीकृत मांग प्रभार सम्मिलित नहीं किए जा सकते। अतः उपभोग कर उस विद्युत पर अधिरोपित नहीं किया जा सकता जो पारेषण के दौरान नष्ट हो जाती है। विद्युत उपभोग पर कर का आधार वास्तव में उपभोगित विद्युत होना चाहिए, न कि पारेषण के दौरान नष्ट हुई विद्युत।"

25. तर्क सं. 1 के संबंध में उच्च न्यायालय ने अभिमत व्यक्त किया कि भारत के संविधान का अनुच्छेद 288 केवल उन प्राधिकारियों पर लागू होता है जो उसके उपबंधों के अर्थ में प्राधिकारी हैं; अतः राष्ट्रपति की अनुमति केवल उनके मामलों में आवश्यक थी, अपीलकर्ताओं जैसे उपभोक्ताओं के मामलों में नहीं।

26. आगे यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि 2003 के अधिनियम की धारा 4 के अनुसार तमिलनाडु राज्य ने सरकार, रेलवे तथा अंतर्राज्यीय नदी विकास से संबंधित प्राधिकारियों को छोड़कर सभी व्यक्तियों को अपने दायरे में सम्मिलित किया है और इस प्रकार संविधान के अनुच्छेद 288 के अधीन निहित संवैधानिक दायित्व का पालन कर लिया गया है। न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :

"22. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अनुच्छेद किसी राज्य को राज्य के बाहर क्रय पर कोई कर अधिरोपित करने से पूर्णतः निषिद्ध करता है। यह निषेध पूर्ण है। जबकि संविधान के अनुच्छेद 288 के अधीन राज्य को विधि बनाने से नहीं रोका गया है, परंतु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसी विधि अनुच्छेद 288 में उल्लिखित प्राधिकारियों के विरुद्ध तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त न हो जाए। इस प्रकार इस अनुच्छेद का उद्देश्य केवल उन प्राधिकारियों को संरक्षण प्रदान करना है जो विद्युत का उत्पादन, उपभोग आदि करते हैं जैसा कि

अनुच्छेद 288 में उल्लिखित है। इसलिए, जैसा कि विद्वान एकल न्यायाधीश ने सही रूप से कहा है, अपीलकर्ता, जो उस अनुच्छेद में वर्णित प्राधिकारी नहीं हैं, उक्त अनुच्छेद का आश्रय नहीं ले सकते और परिणामतः वे अधिनियम 12, 2003 के प्रवर्तन का प्रतिरोध नहीं कर सकते। अतः प्रथम तर्क असफल होगा।"

27. तर्क सं. 3 के संबंध में उच्च न्यायालय ने यह अभिमत व्यक्त किया कि कर टैरिफ पर अधिरोपित किया गया है, परंतु वह स्वयं टैरिफ का भाग नहीं है; इसलिए विद्युत विनियामक आयोग अधिनियम, 1998 (संक्षेप में "1998 का अधिनियम") के उपबंधों की कोई प्रयोज्यता नहीं है। न्यायालय ने कहा :

"30. इसी प्रकार प्रतिकूलता का तर्क भी निराधार है। प्रतिकूलता का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है जब दोनों विधियाँ एक ही प्रविष्टि के अधीन अधिनियमित की गई हों। संसद और राज्य विधानमंडल की दो विधियों के मध्य प्रतिकूलता का प्रश्न तभी उठता है जब दोनों विधियाँ सूची-III की किसी प्रविष्टि से संबंधित हों। जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, केंद्रीय विधि सूची-III की प्रविष्टि 38 से संबंधित है, जबकि राज्य विधि सूची-II की प्रविष्टि 53 के अंतर्गत आती है। इन परिस्थितियों में प्रतिकूलता का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता।"

28. तर्क सं. 4 के संबंध में उच्च न्यायालय ने यह अभिमत व्यक्त किया कि 2003 के अधिनियम की धारा 14 में निहित छूट संबंधी उपबंध, 1962 के अधिनियम की धाराओं 12 और 13 के उपबंधों से असंगत है; इसलिए 2003 के अधिनियम की धारा 20(2)(क) लागू नहीं होगी। न्यायालय ने कहा :

"37. तथापि, इस मामले में, जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, धारा 14 के अधीन केवल विद्युत के विक्रय पर कर के संबंध में छूट का प्रावधान है, विद्युत के उपभोग पर कर के संबंध में नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निरसित अधिनियमों तथा 2003 के निरसनकारी अधिनियम के बीच स्पष्ट असंगति विद्यमान है। इन

परिस्थितियों में, आक्षेपित अधिनियम की धारा 20(2)(क) के आलोक में, छूट संबंधी आदेश नए अधिनियम के प्रवर्तन के साथ प्रभावहीन हो जाएंगे। अतः अपीलकर्ता अधिनियम की धारा 20(1) का लाभ नहीं ले सकते।"

29. तर्क सं. 7 के संबंध में उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उपभोक्ताओं के दो प्रकार हैं, अर्थात् निम्न दाब उपभोक्ता तथा उच्च दाब उपभोक्ता। कर केवल उच्च दाब उपभोक्ताओं द्वारा देय है तथा चूँकि टैरिफ स्वीकृत मांग के आधार पर वसूल किया जाता है, इसलिए अधिकतम मांग पर कर का अधिरोपण विधिसम्मत है। न्यायालय ने कहा:

"52. उच्च दाब संयोजनों के संबंध में द्विस्तरीय टैरिफ प्रणाली अपनाई गई है— एक दर प्रति केवीए के आधार पर प्रत्येक उपभोगित इकाई हेतु तथा दूसरी दर प्रति केवीए स्वीकृत मांग के आधार पर। यह इंगित किया गया है कि 'अधिकतम मांग' की परिभाषा के अनुसार उसका निर्धारण आपूर्ति बिंदु पर प्रदत्त ऊर्जा के आधार पर किया जाता है। यद्यपि टैरिफ स्वीकृत मांग पर वसूल किया जाता है, कर केवल अधिकतम मांग पर लगाया जाता है, अर्थात् वास्तव में उपभोगित ऊर्जा पर।"

30. विद्वान महाधिवक्ता द्वारा कर संग्रह के वास्तविक आधार के संबंध में दिए गए कथन को निम्नलिखित रूप में अभिलिखित किया गया :

"53. अब विद्वान महाधिवक्ता ने प्रस्तुत किया है कि अधिकतम मांग वही है जिसका वास्तव में उपभोग किया जाता है, जबकि स्वीकृत मांग उससे भिन्न है, और इसलिए कर केवल मांग प्रभारों पर अधिरोपित किया जाता है तथा उसका आधार वास्तविक उपभोग ही है।"

अतिरिक्त आधार

31. हमारे समक्ष विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) सं. 21689/2006 से उत्पन्न दीवानी अपील में एक अपीलकर्ता ने अतिरिक्त आधार उठाने हेतु आवेदन प्रस्तुत किया। दिनांक 12.02.2007 के आदेश द्वारा अतिरिक्त आधार उठाने की अनुमति प्रदान की गई। उक्त

अनुमति के अनुसरण में अथवा उसके परिणामस्वरूप 2003 के अधिनियम की धारा 14 की संवैधानिक वैधता को चुनौती दी गई।

अपीलकर्ताओं की ओर से प्रस्तुतियाँ

32. अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री के.के. वेणुगोपाल ने उक्त अतिरिक्त आधारों के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया कि विद्युत ऊर्जा के उपभोक्ता एक समरूप वर्ग का निर्माण करते हैं और इसलिए उन्हें छूट प्रदान किए जाने के विषय में विभेदित नहीं किया जा सकता। विद्वान अधिवक्ता ने यह भी तर्क दिया कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समता का उपबंध संविधान की मूल संरचना का भाग है और इस प्रकार की स्थिति में उसका प्रवर्तन अनिवार्य है। अतः राज्य पर यह दायित्व था कि वह सभी उपभोक्ताओं के साथ समान व्यवहार करे। यह भी तर्क दिया गया कि 2003 के अधिनियम की धारा 14 अपने आप में मनमानी है, इसलिए यह सिद्ध करने का भार राज्य पर था कि किया गया वर्गीकरण वैध वर्गीकरण है। यह भी तर्क दिया गया कि 2003 के अधिनियम की संवैधानिक वैधता बनाए रखने के उद्देश्य से उसकी सीमित व्याख्या की जा सकती है और विद्वान अधिवक्ता के अनुसार "उपभोग के लिए विक्रय की गई विद्युत पर" शब्दों को असंवैधानिक घोषित किया जाना चाहिए।

33. इस न्यायालय की संविधान पीठ द्वारा दिए गए निर्णय *डी.एस. नकारा एवं अन्य बनाम भारत संघ,* [1983] 1 एससीसी 305 पर अवलंबन करते हुए विद्वान अधिवक्ता ने तर्क दिया कि इस उद्देश्य के लिए न्यायालय ऐतिहासिक तथ्यों को भी ध्यान में रख सकता है कि जो छूट लंबे समय से प्रदान की जा रही थी, उसे अचानक समाप्त नहीं किया जा सकता था, विशेषकर तब जब अपीलकर्ताओं ने राज्य द्वारा किए गए इस आश्वासन पर अपनी स्थिति परिवर्तित कर ली थी कि यदि ऐसे स्व-उपयोग उत्पादन संयंत्र अथवा सह-उत्पादन इकाइयाँ स्थापित की जाएँगी, तो उन्हें विद्युत कर के भुगतान से स्थायी छूट प्रदान की जाएगी।

34. यह भी तर्क दिया गया कि *मनका गांधी बनाम भारत संघ,* [1978] 1 एससीसी 248 के निर्णय के आलोक में किसी अधिनियम को केवल भेदभावपूर्ण होने के आधार पर ही नहीं, बल्कि मनमाना होने के आधार पर भी अभिखंडित किया जा सकता है।

35. विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) सं. 2100, 2844, 2099, 2097, 3108, 3109, 3111 एवं 3112/2007 से उत्पन्न दीवानी अपीलों में अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता श्री आर.एफ. नरीमन ने तर्क दिया कि उच्च न्यायालय ने 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधाराओं (1) एवं (2) की संयुक्त व्याख्या करके स्पष्ट त्रुटि की है। दोनों स्वतंत्र हैं तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करती हैं। जहाँ धारा 20(1) का परंतुक 1962 के अधिनियम तथा 1939 के अधिनियम के निरसन के परिणामस्वरूप होने वाले संरक्षण का उपबंध करता है, वहीं धारा 20(2) कुछ बातों को ऐसे जारी रखने के लिए विधिक कल्पना का सृजन करती है मानो 1962 और 1939 के अधिनियम निरसित ही न हुए हों। यह भी इंगित किया गया कि धारा 20(1) में वह अभिव्यक्ति नहीं है जो सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 में प्रयुक्त हुई है, अर्थात् "जब तक कि भिन्न आशय प्रकट न हो"। अतः 1939 के अधिनियम अथवा 1962 के अधिनियम के अधीन उपभोक्ता द्वारा प्राप्त सभी अधिकार एवं विशेषाधिकार संरक्षित हैं।

36. यह तर्क दिया गया कि यद्यपि धारा 20(1) सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 के समान उपबंध रखती है, तथापि धारा 20(1) के खंड (क) एवं (ख) स्पष्ट रूप से लागू होते हैं। इस संदर्भ में *मेसर्स यूनिवर्सल इम्पोर्ट्स एजेंसी एवं एक अन्य बनाम आयात-निर्यात नियंत्रक प्रमुख एवं अन्य*, [1961] 1 एससीआर 305, *श्री राम प्रसाद (मृतक) उनके विधिक प्रतिनिधि द्वारा बनाम पंजाब राज्य*, [1966] 3 एससीआर 486 तथा *पंजाब राज्य बनाम हरनेक सिंह,* [2002] 3 एससीसी 481 पर अवलंबन किया गया।

37. यह भी तर्क दिया गया कि "उपभोग हेतु विक्रय" शब्द एक प्रकार की अनावश्यक पुनरुक्ति है, क्योंकि विद्युत ऊर्जा का भंडारण नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में

आंध्र प्रदेश राज्य बनाम राष्ट्रीय ताप विद्युत निगम लिमिटेड एवं अन्य, [2002] 5 एससीसी 203 तथा *बीएसईएस लिमिटेड बनाम टाटा पावर कंपनी लिमिटेड एवं अन्य*, [2004] 1 एससीसी 195 पर अवलंबन किया गया। अतः यह ऐसा मामला है जिसमें उद्देश्यपरक व्याख्या का सिद्धांत लागू किया जाना चाहिए ताकि "द्वारा" शब्द तथा "उपभोग हेतु विक्रय" वाक्यांश के बीच अर्थपूर्ण सामंजस्य स्थापित किया जा सके। यदि "उपभोग हेतु विक्रय की गई विद्युत पर" शब्दों को अनावश्यक माना जाए, तो 1939 तथा 1962 के अधिनियमों के अधीन जारी अधिसूचनाओं द्वारा प्रदान की गई छूट को बनाए रखने के लिए इन शब्दों की सीमित व्याख्या की जा सकती है, विशेषकर तब जब ऐसी छूटें "स्थायी" रूप से प्रदान की गई थीं।

38. यह व्याख्या इसलिए भी स्वीकार्य है क्योंकि 2003 का अधिनियम समेकन एवं संशोधन हेतु नहीं, बल्कि समेकन एवं युक्तिसंगतीकरण हेतु बनाया गया था। नई आर्थिक नीति को ध्यान में रखते हुए यह अधिनियम निजी क्षेत्र की अधिक भागीदारी को प्रोत्साहित करता है और इसलिए इसकी शाब्दिक अथवा संकीर्ण व्याख्या इस उद्देश्य को विफल कर देगी। किसी भी स्थिति में धारा 14 की ऐसी व्याख्या की जानी चाहिए जो उसे संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुरूप बनाए।

39. यह भी तक दिया गया कि "विशेषाधिकार" का महत्व "अधिकार" से अधिक व्यापक है। अतः यदि अपीलकर्ताओं ने कोई अधिकार अर्जित न भी किया हो, तो भी उनके द्वारा उपभोग किया गया विशेषाधिकार 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) के खंड (ख) के अधीन संरक्षित है।

40. यह तर्क दिया गया कि पक्षकारों ने राज्य द्वारा किए गए आश्वासनों पर विश्वास करके अपने उद्योग स्थापित किए। विशेष रूप से चीनी उद्योगों ने इस उद्देश्य हेतु लगभग 745.64 करोड़ रुपये व्यय किए। इस महत्वपूर्ण निवेश को ध्यान में रखते हुए वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत इस मामले में लागू होना चाहिए और परिणामस्वरूप राज्य स्व-उपयोग विद्युत संयंत्रों, जिनमें अपीलकर्ता भी सम्मिलित हैं, से विद्युत शुल्क की मांग करने से बाधित

है। इस संदर्भ में *एम.आर.एफ. लिमिटेड, कोट्टायम बनाम सहायक आयुक्त (निर्धारण), विक्रय कर एवं अन्य*, [2006] 8 एससीसी 702 तथा *पंजाब राज्य बनाम नेस्ले इंडिया लिमिटेड एवं अन्य,* [2004] 6 एससीसी 465 पर अवलंबन किया गया।

41. इस संदर्भ में न्यायमूर्ति बेग द्वारा उनके सहमति निर्णय में, *मदन मोहन पाठक एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य*, [1978] 2 एससीसी 50 में की गई टिप्पणियों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया, जिसमें जीवन बीमा निगम (समझौते का संशोधन) अधिनियम, 1976 को अन्य कारणों के साथ-साथ इस आधार पर अभिखंडित किया गया था कि उक्त अधिनियम सरकार द्वारा पूर्व में किए गए आश्वासन से विमुख हो गया था।

42. अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री ए.के. गांगुली ने श्री के.के. वेणुगोपाल तथा श्री आर.एफ. नरीमन की दलीलों का समर्थन करते हुए तर्क दिया कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 के अधीन अपेक्षित राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त नहीं की गई थी, इसलिए 2003 का अधिनियम असंवैधानिक है, विशेषकर तब जब 2003 के अधिनियम की धारा 21 तथा 1962 के अधिनियम की धारा 18 में उसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

43. श्री गांगुली ने आगे तर्क दिया कि उच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 288 की गलत व्याख्या की है क्योंकि उसने यह ध्यान नहीं दिया कि उक्त अनुच्छेद दो भागों में विभाजित है। अंतर्राज्यीय नदी प्राधिकरण का उल्लेख उसके प्रथम भाग से संबंधित नहीं है। साथ ही, चूँकि तमिलनाडु विद्युत मंडल, जो 1948 के अधिनियम के उपबंधों के अधीन गठित किया गया था, स्वयं कोई कर नहीं देता, इसलिए वह उन उपभोक्ताओं से भी कोई कर वसूल नहीं कर सकता जिन्हें वह विद्युत आपूर्ति करता है।

44. यह भी तर्क दिया गया कि अधिकतम मांग प्रभारों को विद्युत कर की मांग का आधार नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि अधिकतम मांग प्रभार एक भिन्न उद्देश्य के लिए लगाए जाते हैं और उनका स्वरूप दंडात्मक है। इस संदर्भ में *उड़ीसा राज्य विद्युत मंडल एवं*

अन्य बनाम आईपीआई स्टील लिमिटेड एवं अन्य, [1995] 4 एससीसी 320 पर अवलंबन किया गया।

45. विद्वान अधिवक्ता ने तर्क दिया कि चूँकि कर केवल भारत के संविधान के अनुच्छेद 265 के अनुसार ही अधिरोपित किया जा सकता है, अतः जिस मात्रा की विद्युत ऊर्जा का न तो उपभोग हुआ और न ही विक्रय हुआ, उस पर विद्युत शुल्क अधिरोपित करने हेतु कोई करयोग्य घटना घटित नहीं हुई। इस संदर्भ में हमारा ध्यान इस न्यायालय के निर्णय *मैसूर राज्य बनाम वेस्ट कोस्ट पेपर्स मिल्स लिमिटेड एवं अन्य*, [1975] 3 एससीसी 448 की ओर आकृष्ट किया गया, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया था कि संचरण हानि पर कोई विद्युत शुल्क देय नहीं होता।

46. विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) सं. 18220/2006 से उत्पन्न दीवानी अपील में अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री ए.आर.एल. सुन्दरासन ने तर्क दिया कि संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची III की प्रविष्टि 38 को ध्यान में रखते हुए, जिसके अधीन संसद ने 1998 का अधिनियम अधिनियमित किया था, राज्य संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 53 के अधीन कोई विधि नहीं बना सकता था, क्योंकि विद्युत का संपूर्ण क्षेत्र उसके द्वारा आच्छादित हो चुका है अतः आक्षेपित अधिनियम को 1998 के अधिनियम के प्रतिकूल माना जाना चाहिए।

47. विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) सं. 3600/2007 से उत्पन्न दीवानी अपील में अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता ने तर्क दिया कि संविधान के अनुच्छेद 288 के अनुसार ध्यान उस विधि पर केन्द्रित है जो राज्य को कर अधिरोपित करने का अधिकार प्रदान करती है, न कि कर अधिरोपण की किसी व्यक्तिगत घटना पर। अतः भले ही वास्तविक अधिरोपण न किया गया हो, तथापि ऐसा अधिनियम जो नदी घाटी प्राधिकरणों पर कर अधिरोपित करने का अधिकार प्रदान करता है, विधि-विरुद्ध है।

48. यह भी तर्क दिया गया कि आक्षेपित अधिनियम शक्ति के छलपूर्ण प्रयोग से ग्रस्त है, क्योंकि राज्य ने कर अधिरोपित करके राज्य विद्युत मंडल को वह राशि उपलब्ध कराने का प्रयास किया है जिसे वह विद्युत विनियामक आयोग के माध्यम से प्राप्त नहीं कर सका। किसी अधिनियम के उपबंध का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि वह किसी अन्य अधिनियम के उपबंधों को निष्प्रभावी कर दे। जिन उपभोक्ताओं के पास स्व-उपयोग उत्पादन संयंत्र नहीं है, उनसे कर संग्रह करने का भार अनुज्ञप्तिधारी पर है, इसलिए इसे शुल्क-दर का भाग माना जाना चाहिए और इस दृष्टि से विवादित विधि संविधान के अनुच्छेद 246 के *अधिकारातीत* है।

49. श्री के.वी. विश्वनाथन, विद्वान अधिवक्ता ने तर्क दिया कि शुल्क-दर केवल मूल्य नहीं है, बल्कि उसमें वह सब कुछ सम्मिलित है जो विद्युत ऊर्जा के विक्रय अथवा उपभोग के लिए लिया जाता है।

50. कुछ मामलों में, जिनमें विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) सं. 1746 से 1762/2007 से उत्पन्न दीवानी अपीलें भी सम्मिलित हैं, 1962 के अधिनियम की, 1991 के अधिनियम सं. 32 द्वारा संशोधित उपबंधों की वैधता को भी चुनौती दी गई है। यह तर्क दिया गया कि धारा 3-क के समावेशन के पश्चात तमिलनाडु सरकार ने शासनादेश सं. 787 दिनांक 30.04.1979 जारी किया था ताकि शुल्क-दर की प्रक्रिया को सरल बनाया जा सके और सभी कर उसमें समाहित हो जाएँ। अतः अतिरिक्त कर का नवीन अधिरोपण निषिद्ध होगा।

51. सीमेंट जैसे उत्पादों से संबंधित कुछ कारखानों के मामलों में, जिनमें अन्य के साथ ग्रासिम इंडस्ट्रीज़ लिमिटेड [विशेष अनुमति याचिका (दीवानी) सं. 2064/2007 से उत्पन्न दीवानी अपील] भी सम्मिलित है, यह उल्लेखनीय है कि तमिलनाडु सरकार ने 1962 के अधिनियम की धारा 13(1) के अधीन दिनांक 19.11.1969 के शासनादेश सं. 2072 द्वारा उच्च दाब आपूर्ति के अंतर्गत उपभोग की जाने वाली ऊर्जा पर धारा 12(1) में विनिर्दिष्ट छूट, अर्थात पाँच वर्ष, के अतिरिक्त दो वर्ष की छूट प्रदान की थी। तत्पश्चात दिनांक 18.06.1970

के शासनादेश सं. 1201 द्वारा तमिलनाडु सरकार ने पुनः धारा 13(1) के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए उन व्यक्तियों को, जो स्वयं द्वारा उत्पादित ऊर्जा का उपभोग करते थे, उक्त अधिसूचना द्वारा प्रदत्त छूट के अतिरिक्त दो वर्ष की और छूट प्रदान की, जिससे कुल अवधि पाँच वर्ष हो गई। कुछ अपीलकर्ताओं ने वर्ष 1998 में अपने सीमेंट संयंत्र स्थापित किए, उच्च दाब ऊर्जा संयोजन के लिए आवेदन किया, वर्ष 2000 में स्व-उपयोग विद्युत संयंत्र स्थापित किए तथा उसी वर्ष उनसे ऊर्जा प्राप्त करना प्रारम्भ किया। अतः यह तर्क दिया गया कि 2003 के अधिनियम के अधिनियमित हो जाने के बावजूद उक्त छूट संबंधी अधिसूचनाएँ प्रभावी बनी रहेंगी।

राज्य की ओर से प्रस्तुतियाँ

52. दूसरी ओर, तमिलनाडु राज्य की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री टी.आर. अंध्यारुजिना ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए—

(i) राज्य सूची में विनिर्दिष्ट विषयों पर विधि निर्माण का राज्य विधानमंडल का अधिकार विशिष्ट एवं स्वतंत्र है; अतः संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 53, सूची III की प्रविष्टि 38 के अधीन नहीं होगी।

(ii) अभिलेख पर ऐसा कोई तथ्य प्रस्तुत नहीं किया गया है जिससे यह सिद्ध हो कि राज्य विधानमंडल ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनी विधायी शक्ति का अतिक्रमण किया है अथवा अपनी सीमाओं से बाहर गया है।

(iii) 1998 के अधिनियम के अधीन गठित राज्य विद्युत विनियामक आयोग के कार्य विद्युत के सामान्य पक्षों से संबंधित हैं, कराधान से नहीं। अतः 1998 का अधिनियम सूची II की प्रविष्टि 53 पर प्रभावी नहीं हो सकता और इसलिए संविधान का अनुच्छेद 254 भी लागू नहीं होगा।

(iv) संविधान का अनुच्छेद 288 तभी लागू होगा जब निम्नलिखित शर्तें पूर्ण हों—

(क) संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन कोई प्राधिकरण स्थापित किया गया हो;

(ख) वह प्राधिकरण किसी अंतर्राज्यीय नदी अथवा नदी-घाटी के विनियमन या विकास के उद्देश्य से स्थापित किया गया हो; और केवल ऐसी स्थिति में ही कोई राज्य ऐसी विधि नहीं बना सकेगा जो उस प्राधिकरण द्वारा संग्रहित, उत्पादित, उपभोगित, वितरित अथवा विक्रय की गई जल या विद्युत के संबंध में कर अधिरोपित करे अथवा उसके अधिरोपण को अधिकृत करे;

और इस दृष्टि से, केवल तभी जब कोई राज्य ऐसे प्राधिकरण के संबंध में कोई विधि बनाए, भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 के खंड (2) के अनुसार राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होगी; अन्यथा नहीं।

(v) 1939 के अधिनियम में छूट का कोई उपबंध नहीं था, जबकि 1962 के अधिनियम में केवल विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर छूट का उपबंध था। इसके विपरीत, 2003 का अधिनियम केवल विक्रय पर छूट प्रदान करता है। चूँकि नवीन अधिनियम के उपबंध पूर्ववर्ती अधिनियमों से असंगत हैं और धारा 20 द्वारा 1939 तथा 1962 दोनों अधिनियम निरसित कर दिए गए हैं, इसलिए पूर्व की छूट संबंधी अधिसूचनाएँ प्रभावी नहीं रह सकतीं।

(vi) 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधाराओं (1) एवं (2) को संयुक्त रूप से पढ़ा जाना चाहिए। चूँकि अधिसूचनाओं का उल्लेख केवल धारा 20(2) में है, अतः 2003 के अधिनियम और 1939 तथा 1962 के अधिनियमों के मध्य असंगति होने के कारण वे अधिसूचनाएँ प्रभावी नहीं रह सकतीं।

(vii) धारा 20 में प्रयुक्त "तदनुरूप उपबंध" शब्दों का अर्थ अनिवार्य रूप से "समान" नहीं है, बल्कि "सामंजस्यपूर्ण", "सदृश", "समानरूप" अथवा

"अभिन्न" भी हो सकता है। अतः 2003 के अधिनियम की धारा 14 में निहित छूट संबंधी उपबंध को विषय-वस्तु को आच्छादित करने वाला माना जाना चाहिए।

(viii) यदि 1962 के अधिनियम के अधीन विद्युत शुल्क से छूट प्रदान करने वाली अधिसूचनाओं को 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) के अधीन संरक्षित माना जाए, तो उससे विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न होगी।

(ix) (क) "जब तक कि भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्दों को 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) के संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिए। चूँकि उसका परंतुक वस्तुतः सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 का समावेशन है, अतः उक्त शब्दों को उसमें अंतर्निहित माना जाना चाहिए, भले ही वे स्पष्ट रूप से लिखे न गए हों।

(ख) 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) के परंतुक (क) में प्रयुक्त "विधिपूर्वक किया गया कोई कार्य" शब्दों का अर्थ ऐसा नहीं हो सकता कि वे विद्युत उपभोग पर कर से छूट देने वाली अधिसूचना को जीवित रखें, जबकि धारा 14 उसे निषिद्ध करती है और धारा 20(2)(क) उसके अस्तित्व को नकारती है। अतः इन शब्दों को सीमित एवं संदर्भानुकूल अर्थ दिया जाना चाहिए।

(ग) अपने स्वभाव से ही छूट किसी अधिकार का सृजन नहीं करती; वह सदैव समाप्त किए जाने अथवा वापस लिए जाने योग्य होती है।

(x) आवश्यक अभिकथनों के अभाव में भेदभाव के आधार पर अधिनियम की संवैधानिक वैधता को चुनौती असफल होनी चाहिए। कराधान तथा छूट के विषयों में राज्य को व्यापक विवेकाधिकार प्राप्त है और वह कराधान तथा छूट हेतु विषयों का चयन कर सकता है। अतः अधिसूचनाओं को अधिकारातीत नहीं ठहराया जा सकता।

(xi) वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत वर्तमान मामले में लागू नहीं होगा, क्योंकि राज्य को 2003 के अधिनियम के अधीन विद्युत उपभोग पर कर से छूट प्रदान करने अथवा न करने के संबंध में उसकी विधायी शक्ति के प्रयोग से रोका नहीं जा सकता। किसी अधिनियम को निरसित करने तथा पुनः अधिनियमित करने की विधायी शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध वचनबद्ध प्रतिषेध लागू नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, 1962 के अधिनियम की धारा 13(1) के अधीन प्रदान की गई छूट भी उसी अधिनियम की धारा 13(2) के अधीन निरस्तीकरण अथवा परिवर्तन के अधीन थी।

(xii) 2003 के अधिनियम की धारा 3(1) के खंड (क) एवं (ख) के अनुसार विद्युत कर अनुज्ञप्तिधारी पर अधिरोपित किया जाता है। धारा 2(12) में "शुद्ध प्रभार" की परिभाषा तथा धारा 2(7) के स्पष्टीकरण-2 को साथ पढ़ने पर स्पष्ट है कि कर वास्तविक उपभोग पर लगाया जाता है, न कि मांग प्रभारों पर।

संवैधानिक योजना तथा विधिमान्यता का प्रश्न

53. भारत के संविधान का अनुच्छेद 245 संसद को संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची-I तथा सूची-III में उल्लिखित सभी विषयों पर विधि निर्माण की शक्ति प्रदान करता है। तथापि, राज्य विधानमंडल को सूची-II में विनिर्दिष्ट विषयों पर विधि बनाने का विशिष्ट अधिकार प्राप्त है।

54. निस्संदेह संघीय सर्वोच्चता का सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि सूची-III में वर्णित किसी विषय के संबंध में राज्य की विधायी शक्ति संसद द्वारा बनाए गए किसी अधिनियम के अधीन होगी; तथापि, संविधान के अनुच्छेद 246 का खंड (3) राज्य विधानमंडल को सूची-II के विषयों पर विशिष्ट विधायी शक्ति प्रदान करता है, बशर्ते कि संबंधित प्रविष्टि में स्वयं कोई प्रतिबंध न लगाया गया हो, जैसे कि प्रविष्टियाँ 1, 2, 12, 13,

17, 22, 23, 24, 32 तथा 33। सूची-II की प्रविष्टि 53 में ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है और न ही उसे सूची-I अथवा सूची-III की किसी प्रविष्टि के अधीन बनाया गया है।

55. तीनों सूचियों की विभिन्न प्रविष्टियाँ विधायी क्षेत्रों का निर्धारण करती हैं। अतः उनकी व्याख्या व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण से की जानी चाहिए, न कि संकीर्ण अथवा अत्यधिक तकनीकी ढंग से। सप्तम अनुसूची की योजना में विधायन के सामान्य विषयों और कराधान के शीर्षकों के मध्य स्पष्ट भेद किया गया है। दोनों को पृथक-पृथक रूप से सूचीबद्ध किया गया है। विधायी अधिकारिता के प्रयोजन से कराधान को सामान्य प्रविष्टियों की अपेक्षा एक पृथक विषय के रूप में माना गया है। संविधान के अनुच्छेद 248 के खंड (1) और (2) भी सूचियों की उक्त प्रकृति को अभिव्यक्त करते हैं और इसी कारण कराधान संबंधी विषय को पृथक रूप से विनिर्दिष्ट किया गया है। सामान्यतः कर अधिरोपित करने की शक्ति को किसी सामान्य प्रविष्टि से सहायक शक्ति के रूप में व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता। सूची-II में प्रविष्टियाँ 1 से 44 तक एक समूह का निर्माण करती हैं जो राज्य की विधायी क्षमता वाले विषयों का उल्लेख करती हैं, जबकि प्रविष्टियाँ 45 से 63 तक कराधान से संबंधित पृथक समूह का निर्माण करती हैं। तथापि, हमारा यह आशय नहीं है कि कराधान संबंधी किसी विधि की वैधता के प्रश्न में केवल यही तथ्य निर्णायक होगा, क्योंकि संसद कभी-कभी अनेक प्रविष्टियों के अधीन विधि बना सकती है, जिनमें से एक कराधान संबंधी प्रविष्टि भी हो सकती है।

56. तथापि, सूची-II की प्रविष्टि 53 तथा सूची-III की प्रविष्टि 38 का साधारण अवलोकन ही यह स्पष्ट कर देता है कि उनका संचालन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होना अभिप्रेत है।

57. *नेशनल थर्मल पावर कॉर्पोरेशन लिमिटेड* (उपरोक्त) *के मामले* में इस न्यायालय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "राज्य विधानमंडल की सूची-II के आधार पर कर अधिरोपित

करने संबंधी विधि बनाने की शक्ति दो सीमाओं के अधीन है एक, जो स्वयं प्रविष्टि से उत्पन्न होती है तथा दूसरी, जो संविधान में निहित प्रतिबंधों से प्रवाहित होती है।"

58. प्रविष्टि 53 में ऐसा कोई प्रतिबंध निहित नहीं है; अतः वर्तमान मामले में संविधान के अनुच्छेद 254 का खंड (3) लागू नहीं होगा।

59. विवादित अधिनियम बनाने के लिए तमिलनाडु राज्य की विधायी क्षमता निर्विवाद है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अधिनियम को अधिनियमित करने में राज्य ने किसी शक्ति का छलपूर्ण प्रयोग किया है। इसलिए यह सुरक्षित रूप से निष्कर्षित किया जा सकता है कि राज्य ने अपनी विधायी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया है। [*के.सी. गजपति नारायण देव एवं अन्य बनाम उड़ीसा राज्य*, [1954] एससीआर 1 तथा *आर.एस. जोशी, विक्रय कर अधिकारी, गुजरात एवं अन्य बनाम अजीत मिल्स लिमिटेड एवं एक अन्य*, [1977] 4 एससीसी 98 देखें।]

60. *राजा जगन्नाथ बख्श सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, एआईआर 1962 एससी 1563 में इस न्यायालय ने कहा था—

> "21....यद्यपि किसी कराधान विधि की वैधता को केवल इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह अत्यधिक अथवा अनुचित भार अधिरोपित करती है, तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि कराधान विधि को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह विधायी शक्ति का छलपूर्ण प्रयोग है और इस प्रकार विधायी शक्ति पर एक प्रकार की कपटपूर्ण कार्यवाही है। यदि यह प्रदर्शित कर दिया जाए कि जो अधिनियम स्वयं को कराधान अधिनियम के रूप में प्रस्तुत करता है, वास्तव में विधायी शक्ति का छलपूर्ण प्रयोग है, तो वह उसे निरस्त करने का स्वतंत्र आधार होगा। विधायी शक्ति का छलपूर्ण प्रयोग उस शक्ति का वैध प्रयोग नहीं है और इसलिए उसे चुनौती दी जा सकती है। किंतु ऐसी चुनौती केवल यह दर्शाकर सफल नहीं हो सकती कि अधिरोपित कर अत्यधिक या अनुचित है; इसके लिए अन्य प्रासंगिक

परिस्थितियों को सिद्ध करना होगा, जो यह निष्कर्ष न्यायोचित ठहराएँ कि अधिनियम छलपूर्ण है और इस प्रकार विधायी शक्ति के साथ कपट के समान है।"

61. सूची-II की प्रविष्टि 53 कराधान संबंधी प्रविष्टि है, जबकि सूची-III की प्रविष्टि 38 विद्युत के सामान्य पहलुओं से संबंधित अकराधान प्रविष्टि है। 1998 का अधिनियम आयोग को केवल विद्युत शुल्क-दर अथवा विद्युत उपभोग के लिए देय प्रभार निर्धारित करने का अधिकार प्रदान करता है। राज्य द्वारा निर्मित विधि विद्युत शुल्क-दर के वास्तविक निर्धारण से स्वतंत्र है। "शुल्क-दर" का अर्थ सामान्यतः दरों की सारणी अथवा व्यापारिक दर-पुस्तक से होता है। [*बीएसईएस लिमिटेड* (उपरोक्त) के निर्णय में पृष्ठ 208 देखें।]

62. संविधान का अनुच्छेद 254 समवर्ती सूची के विषयों के संबंध में संसद द्वारा निर्मित विधि और राज्य द्वारा निर्मित विधि के बीच उत्पन्न संघर्ष के समाधान की व्यवस्था करता है।

63. *मध्य प्रदेश विद्युत कर्मचारी संघ बनाम मध्य प्रदेश विद्युत मंडल*, [2004] 9 एससीसी 755 में यह अभिनिर्धारित किया गया था—

"28. उक्त सिद्धांतों का सहारा तभी लिया जाएगा जब दो उपबंधों के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष विद्यमान हो। यदि यह माना जाता है कि संसद द्वारा निर्मित विधि और राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि एक ही क्षेत्र को आच्छादित करती हैं, तो राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त राज्य विधि, प्रत्यक्ष संघर्ष की स्थिति में, संसदीय अधिनियम पर प्रभावी होगी। सामान्यतः दोनों विधियों को उनके-अपने क्षेत्र में प्रभावी रहने दिया जाएगा। तथापि, यदि कोई संघर्ष नहीं है, तो संसदीय अधिनियम अथवा राज्य अधिनियम में से वही प्रभावी होगा जिसके संबंध में राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई है अथवा नहीं हुई है। (*भारत हाइड्रो पावर कॉर्पोरेशन लिमिटेड बनाम असम राज्य* देखें)।"

64. अतः 2003 का अधिनियम, 1948 के अधिनियम के प्रतिकूल नहीं है।

अनुच्छेद 288 संबंधी प्रश्न

65. यह सत्य है कि 1962 के अधिनियम की धारा 18 तथा 2003 के अधिनियम की धारा 21 में यह उपबंध किया गया है कि वे संविधान के अनुच्छेद 288 के अधीन प्रभावी होंगे। उक्त अनुच्छेद कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यों द्वारा जल अथवा विद्युत पर कराधान से छूट का प्रावधान करता है। उसके खंड (2) के अनुसार, जब कोई राज्य कर अधिरोपित करने हेतु विधि बनाता है और वह विधि कर की दरों तथा अन्य करगत घटनाओं के निर्धारण का प्रावधान करती है, तब राष्ट्रपति की स्वीकृति अपेक्षित होती है।

66. संविधान के अनुच्छेद 288 के खंड (2) का साधारण अध्ययन ही यह स्पष्ट कर देता है कि उसका प्रयोग केवल नदी-घाटी प्राधिकरणों, जैसे कि 1948 के दामोदर घाटी निगम अधिनियम के अधीन स्थापित दामोदर घाटी निगम, के संबंध में किया जाना अभिप्रेत था। यह प्रश्न इस न्यायालय के समक्ष *दामोदर घाटी निगम बनाम बिहार राज्य एवं अन्य,* [1976] 3 एससीसी 710 में विचारार्थ आया था, जिसमें अभिनिर्धारित किया गया था—

> "9. अनुच्छेद 288 के खंड (2) की अपेक्षा यह है कि राज्य विधानमंडल द्वारा खंड (1) में उल्लिखित कर के अधिरोपण अथवा उसके अधिरोपण को प्राधिकृत करने हेतु बनाई गई विधि तभी प्रभावी होगी जब उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित किए जाने के पश्चात उनकी स्वीकृति प्राप्त हो। उक्त खंड की एक अन्य अपेक्षा यह है कि यदि ऐसी विधि कर की दरों तथा उससे संबंधित अन्य प्रासंगिक तत्वों के निर्धारण का प्रावधान ऐसे नियमों अथवा आदेशों द्वारा करती है जिन्हें किसी प्राधिकारी द्वारा उस विधि के अधीन बनाया जाना है, तो उस विधि में यह प्रावधान होना चाहिए कि ऐसे नियम अथवा आदेश बनाए जाने से पूर्व राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त की जाएगी। तथापि, उस खंड का यह अभिप्राय नहीं है कि उपर्युक्त दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी वे उपबंध, जो केवल उक्त कर के भुगतान की रीति और प्रक्रिया से संबंधित हैं, राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करें, और ऐसी स्वीकृति के अभाव में कर के

अधिरोपण से संबंधित वे उपबंध, जिन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त है, अप्रवर्तनीय बने रहें।"

67. यह सत्य हो सकता है कि इस प्रकार के मामले में भारत के संविधान के अनुच्छेद 288 की प्रयोज्यता के संबंध में कोई स्पष्ट उपबंध रखना आवश्यक नहीं था, किन्तु ऐसा अत्यधिक सावधानीवश किया गया होगा। केवल इस कारण कि संविधान के किसी उपबंध का अधिनियम में उल्लेख किया गया है, हमारे मत में यह आवश्यक रूप से नहीं माना जा सकता कि उसकी संवैधानिक वैधता का परीक्षण करते समय उसे विचार में लिया ही जाए। अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ताओं का यह तर्क कि ऐसा वर्ष 1948 के अधिनियम, जिसके अधीन राज्य विद्युत मंडलों की स्थापना की गई है, को प्रभावी बनाने के लिए किया गया था, हमें स्वीकार्य नहीं है। यह स्थापित सिद्धांत है कि उपबंधों को उनकी संपूर्णता में पढ़ा जाना चाहिए। उन्हें इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 287 के उपबंधों को प्रभावी बनाया जा सके। इसका प्रयोग संविधान के भाग 12 के शीर्षक के संदर्भ में किया जाना अभिप्रेत है, न कि वर्तमान मामले जैसी स्थिति से निपटने के लिए।

68. वर्ष 2003 के अधिनियम के अंतर्गत राज्य विद्युत मंडल को छूट प्रदान की गई है, किन्तु केवल इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनसे विद्युत ऊर्जा क्रय करने वाले व्यक्तियों को भी वही छूट प्राप्त होगी। यदि ऐसा अभिप्रेत होता, तो उसका स्पष्ट प्रावधान किया जा सकता था। विधि-निर्वचन का यह सिद्धांत कि छूट संबंधी उपबंध तभी लागू होते हैं जब उनके लिए अपेक्षित पूर्ववर्ती शर्तें पूर्ण हों, संवैधानिक निर्वचन के मामलों में भी समान रूप से लागू होगा।

69. तथापि, अपीलकर्ताओं की ओर से विद्वान अधिवक्ता ने तर्क दिया कि संविधान के अनुच्छेद 265 को अनुच्छेद 288 के साथ पढ़ने पर बाद वाले उपबंध का अनुपालन अनिवार्य हो जाता है।

70. "के अधीन" अभिव्यक्ति से यह तात्पर्य निकलता है कि अनुच्छेद 288 के उपबंधों का अनुपालन किया जाना होगा। निस्संदेह, सामान्यतः "के अधीन" शब्दावली का अर्थ यह होता है कि कोई उपबंध किसी अन्य उपबंध अथवा उपबंधों के अधीन होकर प्रभावी होता है। किन्तु प्रदत्त छूट की प्रकृति, विषय-वस्तु तथा उस छूट के प्राप्तकर्ता की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, हमारे मत में वर्तमान मामले में अनुच्छेद 288 का कोई अनुप्रयोग नहीं है।

अनुच्छेद 14 का प्रश्न

71. वर्ष 2003 के अधिनियम को संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समानता के उपबंध का उल्लंघन करने वाला होने का प्रश्न उच्च न्यायालय के समक्ष नहीं उठाया गया था। केवल एक दीवानी अपील में अतिरिक्त आधार उठाने की अनुमति मांगी गई थी और अनुमति दिए जाने के पश्चात यह प्रश्न उठाया गया। तथापि, कोई भी आधार तथ्यात्मक नींव पर आधारित होना चाहिए। अनुच्छेद 14 को आकर्षित करने हेतु आवश्यक तथ्यों का अभिकथन किया जाना आवश्यक था। यह मूलभूत तथ्य कि वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 14 किस प्रकार भेदभावपूर्ण है, कहीं भी अभिव्यक्त नहीं किए गए। तमिलनाडु सरकार को भी इस तर्क का उत्तर देने का अवसर नहीं दिया गया।

72. अब यह सुविदित सिद्धांत है कि ऐसी तथ्यात्मक नींव, जब तक कि वह स्वयं अधिनियम से स्पष्ट रूप से प्रकट न होती हो, प्रथम बार इस न्यायालय के समक्ष उठाने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

73. *'ओरिएंट वीविंग मिल्स प्राइवेट लिमिटेड बनाम भारत संघ'*, [1962 अनुपूरक 3 एससीआर 481] में इस न्यायालय ने कहा था—

> "... याचिकाकर्ताओं पर उत्पाद शुल्क अधिरोपित करने के लिए अधिनियम के उपबंधों की संवैधानिक वैधता को चुनौती देना एक बात है; किन्तु पाँचवें उत्तरदाता द्वारा उत्पादित वस्तुओं के संबंध में प्रदान की गई छूट के विरुद्ध शिकायत करना

सर्वथा भिन्न बात है। चूँकि स्वयं अधिनियम की वैधता को चुनौती नहीं दी गई है, इसलिए उस संभावित विवाद के उस पक्ष पर हमें और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, जिसे याचिका में वास्तव में उठाया ही नहीं गया है।"

74. इसके अतिरिक्त, कराधान के क्षेत्र में राज्य को व्यापक विवेकाधिकार प्राप्त है तथा उसे कराधान और छूट के लिए विषयों का चयन करने की अनुमति है।

75. हम नहीं समझते कि इस प्रश्न में और अधिक प्रवेश करना उचित होगा।

76. उच्च न्यायालय के समक्ष आवश्यक अभिकथनों और आधारों के अभाव में हम अपीलकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ताओं के इस तर्क से सहमत होने की स्थिति में नहीं हैं कि केवल इसलिए कि निरसित अधिनियम की धारा 13, वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 14 से असंगत है, धारा 14 मनमानी, भेदभावपूर्ण तथा संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करने वाली हो जाती है। यह तर्क इस आधार पर दिया गया कि आरोपण उपबंध विद्युत ऊर्जा के विक्रय और उपभोग पर कर लगाने का प्रावधान करता है, जबकि छूट संबंधी उपबंध केवल "उपभोग हेतु विक्रय की गई विद्युत" पर कर से छूट देने की शक्ति प्रदान करता है और स्वयं उत्पन्न तथा स्वयं उपभोग की गई विद्युत ऊर्जा पर कर-छूट का कोई समतुल्य प्रावधान नहीं करता।

धारा का सीमित निर्वचन किया जाना चाहिए या नहीं

77. अब केवल यह प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 14 के उपबंधों को इस प्रकार पढ़ा जाए कि वे संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुरूप हो जाएँ। विद्वान अधिवक्ता का तर्क था कि धारा 14 का शब्दांकन अस्पष्ट है। हम इससे सहमत नहीं हैं। इस तर्क का आधार यह था कि विद्युत का भंडारण नहीं किया जा सकता। '*नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन लिमिटेड*' (उपरोक्त) वाद में इस संबंध में कहा गया था—

"... इस अवलोकन में हम न्यायमूर्ति ग्रोवर से विद्युत ऊर्जा की अन्य सभी विशेषताओं के संबंध में सहमत हैं, किन्तु इस सीमा तक नहीं कि विद्युत ऊर्जा का

भंडारण किया जा सकता है। जहाँ तक यह कहा गया है कि विद्युत ऊर्जा का भंडारण किया जा सकता है, वह कथन त्रुटिपूर्ण अथवा अनवधानवश किया गया माना जाएगा। विज्ञान और प्रौद्योगिकी आज तक ऐसी कोई विधि विकसित नहीं कर सके हैं जिसके द्वारा विद्युत ऊर्जा का संरक्षण अथवा भंडारण किया जा सके।"

[देखें, *बीएसईएस लिमिटेड* (उपरोक्त) वाद, कंडिका 16 एवं 18]।

78. तथापि, *नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन लिमिटेड* (उपरोक्त) वाद में संपादकीय टिप्पणी स्वयं यह इंगित करती है कि अब कम-से-कम कुछ सीमा तक विद्युत का भंडारण संभव है और उस पक्ष पर वहाँ विचार नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त, केवल इस आधार पर कि विद्युत का भंडारण नहीं किया जा सकता, "उपभोग हेतु विक्रय" शब्दों को, जैसा कि तर्क दिया गया है, मात्र निरर्थक पुनरुक्ति नहीं माना जा सकता।

79. उद्देश्यपरक निर्वचन के सिद्धांत का आश्रय तभी लिया जा सकता है जब कोई अस्पष्टता विद्यमान हो। यदि हम विद्वान अधिवक्ता, विशेषतः श्री नारिमन के तर्क को स्वीकार करें, तो हमें "विक्रय" शब्द के तुरंत बाद प्रयुक्त "उपभोग हेतु" शब्दों की उपेक्षा करनी होगी और साथ ही "उपभोग" शब्द के तुरंत बाद प्रयुक्त "द्वारा" शब्द की भी उपेक्षा करनी होगी। ऐसा करने पर हमें उन शब्दों को एक नया अर्थ देना पड़ेगा, जो वस्तुतः न्यायिक विधिनिर्माण के समान होगा। हमें ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती, क्योंकि ऐसा करने से कराधान संबंधी उपबंध को एक नया आयाम प्राप्त होगा, जिसके परिणामस्वरूप न केवल विद्युत के विक्रय के संदर्भ में, बल्कि उसके उपभोग के संदर्भ में भी छूट संबंधी उपबंधों को समझना पड़ेगा।

80. हम इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं हैं कि वर्ष 2003 का अधिनियम केवल समेकन के लिए ही नहीं, अपितु विधि को युक्तिसंगत बनाने के लिए भी अधिनियमित किया गया था। विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री नरीमन ने हमें समेकनकारी अधिनियम के निर्वचन के संबंध में विभिन्न न्यायिक निर्णयों, अर्थात् *आयकर आयुक्त बनाम हिंची*, (1960) 1 ऑल ई.आर.

505; *बेसविक बनाम बेसविक,* (1967) 2 ऑल ई.आर. 1197; *लोक अभियोजन निदेशक बनाम शिल्डकैम्प*, (1969) 3 ऑल ई.आर. 1640; *मॉन्सेल बनाम ओलिन्स*, (1975) 1 ऑल ई.आर. 16; तथा *फैरेल बनाम एलेक्ज़ेंडर*, (1976) 2 ऑल ई.आर. 721, की ओर ध्यान आकृष्ट कराया, ताकि यह प्रतिपादित किया जा सके कि समेकनकारी अधिनियम का उद्देश्य विधि में परिवर्तन करना नहीं होता। किन्तु, इन निर्णयों में यह भी इंगित किया गया है कि कोई समेकनकारी अधिनियम संशोधनकारी अधिनियम भी हो सकता है।

81. यह कहना एक बात है कि जहाँ किसी अधिनियम में प्रयुक्त शब्द या अभिव्यक्तियाँ स्पष्ट रूप से किसी पूर्ववर्ती समान विषय-वस्तु वाले अधिनियम से ग्रहण की गई हों और जिनका न्यायिक निर्वचन हो चुका हो, वहाँ यह उपधारित किया जाना चाहिए कि संसद उससे अवगत थी तथा उसका अभिप्राय परवर्ती अधिनियमन में उसी का अनुसरण करने का था। किन्तु यह कहना सर्वथा भिन्न बात है कि केवल इस कारण कि समेकनकारी अधिनियम विषय से संबंधित विभिन्न अधिनियमों को व्यवस्थित रूप में पुनः अधिनियमित करता है, उस विषय पर पूर्ववर्ती विधियों का अवलंब लेना अथवा उन पर विचार करना आवश्यक या उपयुक्त है। [देखें, *विलियम्स बनाम परमानेंट ट्रस्टी कंपनी ऑफ न्यू साउथ वेल्स,* (1906) ए.सी. 249, पृष्ठ 252 तथा एन.एस. बिंद्रा, "स्टैच्यूट्स का निर्वचन", दशम संस्करण, पृष्ठ 1071-1072]।

82. "समेकित करना और संशोधित करना" शब्द भी प्रायः किसी अधिनियम के निरसन संबंधी उपबंध में प्रयुक्त होते हैं। ऐसा अधिनियम आवश्यक रूप से विधि में परिवर्तन करने के उद्देश्य से नहीं बनाया जाता।

83. *भारत संघ बनाम महिन्द्रा सप्लाई कंपनी*, एआईआर (1962) एससी 256 में, इस न्यायालय ने निम्नलिखित अभिलक्षित किया :

"7. ... मध्यस्थता अधिनियम, 1940 एक समेकनकारी तथा संशोधनकारी अधिनियम है और मध्यस्थता से संबंधित सभी प्रयोजनों के लिए एक संहिता है। भारतीय

उत्तराधिकार अधिनियम, 1865 के निर्वचन के संदर्भ में प्रिवी काउंसिल ने *नरेन्द्र नाथ सरकार बनाम कमलाबासिनी देसाई* में यह अभिलक्षित किया था कि किसी संहिता का निर्वचन उसमें प्रयुक्त भाषा के स्वाभाविक अर्थ के अनुसार किया जाना चाहिए, न कि इस उपधारणा के आधार पर कि उसका उद्देश्य विद्यमान विधि को अपरिवर्तित रखना था। न्यायिक समिति ने *बैंक ऑफ इंग्लैंड बनाम वाग्लियानो ब्रदर्स* में लॉर्ड हर्शेल द्वारा की गई निम्नलिखित टिप्पणी का अनुमोदन किया :

'मेरा मत है कि ... उचित मार्ग यह है कि सर्वप्रथम अधिनियम की भाषा का परीक्षण किया जाए और यह पूछा जाए कि उसका स्वाभाविक अर्थ क्या है, बिना इस बात से प्रभावित हुए कि पूर्ववर्ती विधि की स्थिति क्या थी न कि पहले यह जाँच की जाए कि विधि पूर्व में कैसी थी और फिर यह मानकर कि संभवतः उसे अपरिवर्तित रखने का आशय था, यह देखा जाए कि क्या अधिनियम के शब्द उस दृष्टिकोण के अनुरूप कोई अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। यदि किसी अधिनियम, जिसका उद्देश्य विधि की किसी विशिष्ट शाखा को संहिता के रूप में समाहित करना है, का इस प्रकार व्यवहार किया जाए, तो मेरे विचार में उसकी उपयोगिता लगभग पूर्णतः नष्ट हो जाएगी और जिस उद्देश्य से उसका अधिनियमन किया गया था, वही विफल हो जाएगा। ऐसे अधिनियम का उद्देश्य निश्चय ही यह होता है कि जिस किसी विषय का उसमें विशिष्ट रूप से विनियमन किया गया है, उस संबंध में विधि का निर्धारण उसमें प्रयुक्त भाषा के निर्वचन से किया जाए, न कि पूर्ववत् असंख्य प्राधिकारों में विचरण करके, सूक्ष्म और आलोचनात्मक परीक्षण के माध्यम से यह ज्ञात किया जाए कि विधि क्या थी ....'

अतः किसी अधिनियम का निर्वचन करते समय न्यायालय को ऐसे शब्द जोड़ने का प्रयास नहीं करना चाहिए जो अधिनियम में विद्यमान नहीं हैं; और न ही यह अनुमेय है कि किसी ऐसी संहिता का, जो विधि की किसी शाखा का संहिताकरण करती है, इस उपधारणा के साथ निर्वचन किया जाए कि उसका उद्देश्य पूर्ववर्ती विधि को

परिवर्तित करना नहीं था। इसी प्रकार ऐसे शब्द भी नहीं जोड़े जा सकते जिनका कोई आधार अधिनियम में उपलब्ध नहीं है। तथापि, हम इस तर्क का निस्तारण केवल इन सामान्य विचारों के आधार पर नहीं करना चाहते। हमारे मत में, यहाँ तक कि विधायी इतिहास भी, प्रिवी काउंसिल द्वारा हरीश चन्द्र प्रकरण में प्रतिपादित सिद्धांत के आलोक में देखने पर, अधिनियम के स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष आशय से विचलित होने का कोई पर्याप्त औचित्य प्रदान नहीं करता।"

84. ऐसा निर्वचन केवल तभी अपनाया जाना चाहिए जब वह विशुद्ध समेकनकारी अधिनियम हो, किन्तु इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता कि यदि इसके विपरीत स्पष्ट और असंदिग्ध शब्द प्रयुक्त किए गए हों, तो ऐसे निर्वचन को उन शब्दों के समक्ष स्थान छोड़ना होगा। [देखें, *बेसविक बनाम बेसविक* (उपरोक्त) तथा *ग्रे बनाम आयकर आयुक्त*, (1959) 3 ऑल ई.आर. 603]।

85. तथापि, ऐसा कोई संवैधानिक अथवा वैधानिक प्रतिबंध नहीं है कि कोई समेकनकारी अधिनियम अनिवार्यतः संशोधनकारी अधिनियम भी हो। जब नवीन अधिनियम में भिन्न शब्दावली का प्रयोग किया गया हो, तब न्यायालय के लिए निरसित अधिनियम के उपबंधों का संदर्भ लेना उचित नहीं होगा।

86. हम यह भी उल्लेख कर सकते हैं कि समेकनकारी अधिनियम और अन्य अधिनियमों के मध्य किया जाने वाला भेद अब अधिक मान्य नहीं रह गया है। केवल कुछ अपवादात्मक परिस्थितियों में ही पूर्ववर्ती अधिनियम में प्रयुक्त भाषा का आश्रय लिया जा सकता है।

87. जी.पी. सिंह की 'विधियों के निर्वचन के सिद्धांत', दशम संस्करण, पृष्ठ 315-316 में कहा गया है:

"निर्वचन के प्रयोजन से समेकनकारी अधिनियमों और अन्य अधिनियमों के मध्य किया जाने वाला भेद धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। हाल के निर्णयों में इस बात

पर बल दिया गया है कि समेकनकारी अधिनियम का निर्वचन सामान्य निर्वचन सिद्धांतों के अनुसार किया जाना चाहिए और निरसित अधिनियमों का आश्रय केवल किसी अस्पष्टता को दूर करने के लिए ही लिया जा सकता है; क्योंकि यदि समेकनकारी अधिनियम के निर्वचन से संबंधित प्रत्येक प्रश्न पर उसके द्वारा समेकित एवं निरसित अधिनियमों का संदर्भ लेना पड़े, तो समेकन की प्रक्रिया का उद्देश्य ही काफी हद तक निष्फल हो जाएगा। समेकनकारी अधिनियम के निर्वचन का प्राथमिक नियम यह है कि उसकी भाषा का परीक्षण स्वयं अधिनियम के आधार पर किया जाए, बिना निरसित अधिनियमों का संदर्भ लिए। केवल तब, जब समेकनकारी अधिनियम अपने उचित निर्वचन के संबंध में कोई मार्गदर्शन न दे, निरसित अधिनियमों से सहायता ली जा सकती है। समेकनकारी अधिनियम में जो बात स्पष्ट है, उसे अस्पष्ट या संदिग्ध बनाने के लिए निरसित अधिनियमों का आश्रय लेना कभी भी वैध नहीं है। केवल तब, जब वास्तविक अथवा पर्याप्त कठिनाई या अस्पष्टता विद्यमान हो, न्यायालय निरसित और पुनः अधिनियमित विधियों के संदर्भ में उस कठिनाई अथवा अस्पष्टता को दूर करने का प्रयास कर सकता है। यह नियम सभी प्रकार के समेकनकारी अधिनियमों पर लागू होता है, जो सामान्यतः तीन प्रकार के होते हैं: (1) विशुद्ध समेकन अर्थात् पुनः अधिनियमन, (2) सुधार एवं लघु संशोधनों सहित समेकन, तथा (3) विधि आयोग के संशोधनों सहित समेकन। किन्तु जहाँ स्वयं अधिनियम के उपबंध पूर्ववर्ती विधि की ओर संकेत करते हों और कुछ मामलों में उनके बिना समझ में न आते हों, वहाँ अधिनियम के निर्वचन के लिए पूर्ववर्ती विधि का आश्रय लेना अपरिहार्य हो जाता है।"

निरसन का प्रश्न

88. वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 द्वारा वर्ष 1962 के अधिनियम तथा वर्ष 1939 के अधिनियम दोनों का निरसन कर दिया गया है। 'निरसन' का प्रभाव सुविदित है

और इस विषय में सामान्यतः कोई विवाद नहीं है। अतः पक्षकारों के प्रतिद्वंद्वी तर्कों पर विचार करने से पूर्व, इस विषय में इस न्यायालय के कुछ निर्णयों का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

89. *पंजाब राज्य बनाम मोहर सिंह*, [1955] 1 एससीआर 893 में इस न्यायालय ने कहा था:

> "... जब भी किसी अधिनियम का निरसन होता है, तब सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 में निर्दिष्ट परिणाम लागू होंगे, जब तक कि, जैसा कि स्वयं उस धारा में कहा गया है, कोई भिन्न आशय प्रकट न हो। साधारण निरसन की स्थिति में इसके विपरीत मत व्यक्त करने की बहुत कम संभावना रहती है। किन्तु जब निरसन के पश्चात उसी विषय पर नवीन विधि अधिनियमित की जाती है, तब निस्संदेह हमें नवीन अधिनियम के उपबंधों को देखना होगा, परंतु केवल इस उद्देश्य से कि क्या वे किसी भिन्न आशय का संकेत करते हैं। जांच का प्रश्न यह नहीं होगा कि क्या नवीन अधिनियम ने पुराने अधिकारों और दायित्वों को स्पष्ट रूप से जीवित रखा है, बल्कि यह होगा कि क्या वह उन्हें समाप्त करने का आशय व्यक्त करता है। अतः हम इस व्यापक प्रतिपादन से सहमत नहीं हो सकते कि जब किसी अधिनियम का निरसन कर उसी विषय पर नवीन विधि बनाई जाती है, तब सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 लागू नहीं होती। ऐसे मामलों में भी धारा 6 लागू होगी, जब तक कि नवीन विधि धारा 6 के उपबंधों से असंगत अथवा उनके विपरीत कोई आशय व्यक्त न करे। ऐसी असंगति का निर्धारण नवीन विधि के समस्त प्रासंगिक उपबंधों पर विचार करके किया जाएगा और केवल बचाव उपबंध का अभाव अपने आप में निर्णायक नहीं होगा। इन्हीं सिद्धांतों के आलोक में हम अब वर्तमान मामले के तथ्यों का परीक्षण करते हैं।"

90. *जयन्तीलाल अमरथलाल बनाम भारत संघ*, [1972] 4 एससीसी 174 में इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया:

"8. उपर्युक्त तर्क अस्वीकार्य है। स्वर्ण (नियंत्रण) अधिनियम, 1968 में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जो नियम 126(1)(10) से असंगत हो। अतः उस नियम के अंतर्गत की गई कार्यवाही को सामान्य खंड अधिनियम, 1897 की धारा 6 के कारण जारी माना जाएगा। यह सत्य है कि स्वर्ण (नियंत्रण) अधिनियम, 1968 ने धारा 6 के उपबंधों को अपने भीतर समाहित करने का दावा नहीं किया है। किन्तु उसके उपबंध धारा 6 से असंगत भी नहीं हैं। इसलिए स्वर्ण (नियंत्रण) अध्यादेश, 1968 के निरसन के परिणामस्वरूप धारा 6 के उपबंध लागू होंगे। चूँकि स्वर्ण (नियंत्रण) अधिनियम किसी भिन्न अथवा विपरीत आशय को व्यक्त नहीं करता, इसलिए निरसित विधि के अंतर्गत प्रारंभ की गई कार्यवाहियाँ जारी रहेंगी। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्वर्ण (नियंत्रण) अध्यादेश के अधीन नियमों को संसद के अधिनियम के समान माना गया था। अतः नियमों तथा अध्यादेश के निरसन पर धारा 6 में वर्णित परिणाम लागू होंगे। यह निर्धारित करने के लिए कि क्या कोई विपरीत आशय है, नवीन अधिनियम के उपबंधों को देखना होगा। यह जांचने का उचित तरीका यह नहीं है कि क्या नवीन अधिनियम ने पुराने अधिकारों और दायित्वों को जीवित रखा है, बल्कि यह है कि क्या उसने उन्हें समाप्त कर दिया है। नवीन अधिनियम में ऐसा बचाव उपबंध न होना, जो निरसित विधि के अधीन अर्जित अधिकारों एवं उपगत दायित्वों को संरक्षित रखता हो, न तो अपने आप में प्रासंगिक है और न ही विवाद के निर्धारण हेतु निर्णायक है। इस संबंध में देखें, *पंजाब राज्य बनाम मोहर सिंह तथा टी.एस. बालैयाह बनाम आयकर अधिकारी, केंद्रीय वृत्त-6, मद्रास*।"

91. *इंडिया टोबैको कंपनी लिमिटेड बनाम वाणिज्यिक कर अधिकारी, भवानीपुर एवं अन्य*, [1975] 3 एससीसी 512 में इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया:

"15. निर्वचन का सामान्य नियम यह है कि किसी निरसनकारी अधिनियम के निरसन से उसके द्वारा निरसित कोई विधि पुनर्जीवित नहीं होती। किन्तु यह नियम

पूर्ण नहीं है। यह निरसनकारी अधिनियम में व्यक्त किसी भिन्न आशय के अधीन है। ऐसा आशय स्पष्ट भी हो सकता है और निहित भी। अतः विचारणीय प्रश्न हैं: क्या सिगरेटों के संबंध में वर्ष 1941 का अधिनियम, वर्ष 1954 के अधिनियम द्वारा निरसित हुआ था और क्या वर्ष 1954 का अधिनियम, वर्ष 1958 के अधिनियम द्वारा निरसित हुआ? क्या वर्ष 1954 तथा वर्ष 1958 के अधिनियम वास्तव में निरसनकारी अधिनियम थे? क्या वर्ष 1954 तथा वर्ष 1958 के अधिनियमों में ऐसा कुछ है जो सिगरेटों के संबंध में वर्ष 1941 के अधिनियम के पुनर्जीवन का संकेत देता हो?

16. यह अब सुव्यवस्थित विधि-सिद्धांत है कि निरसन का आशय एक अधिनियम का दूसरे अधिनियम द्वारा इस प्रकार अपनयन अथवा पूर्ण लोप कर दिया जाना है कि वह विधि-पुस्तक से ऐसे समाप्त माना जाए मानो उसका कभी अधिनियमन ही न हुआ हो। जब किसी अधिनियम का निरसन कर दिया जाता है, तब उसे (भूतकालीन एवं पूर्ण हो चुके व्यवहारों को छोड़कर) इस प्रकार माना जाना चाहिए मानो उसका कभी अस्तित्व ही न रहा हो। [*के बनाम गुडविन* में प्रधान न्यायाधीश टिंडल तथा *सर्टीज़ बनाम एलिसन में लॉर्ड टेंटरडन* द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत, जिसे *उड़ीसा राज्य बनाम एम.ए. टुलॉक एंड कंपनी* में अनुमोदन सहित उद्धृत किया गया है।"

17. निरसन केवल औपचारिकता का विषय नहीं है, अपितु विधायिका के आशय पर निर्भर एक सारभूत विषय है। यदि परवर्ती विधि में व्यक्त रूप से अथवा आवश्यक निहितार्थ द्वारा प्रदर्शित आशय पूर्ववर्ती अधिनियम को पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से निरस्त या समाप्त करने का हो, तो वह पूर्ण अथवा आंशिक निरसन का मामला होगा। यदि आशय केवल पूर्ववर्ती अधिनियम में कोई अपवाद जोड़कर, छूट प्रदान करके, अतिरिक्त शर्तें आरोपित करके अथवा उसके प्रवर्तन को सीमित, अवरुद्ध या स्थगित करके उसका संशोधन करना हो, तो ऐसा संशोधन निरसन नहीं माना जाएगा (देखें, क्रेज़ ऑन स्टैच्यूट लॉ, सप्तम संस्करण, पृष्ठ 349, 353, 373, 374 एवं 375;

मैक्सवेल ऑन द इंटरप्रिटेशन ऑफ स्टैच्यूट्स, एकादश संस्करण, पृष्ठ 164, 390, जो *माउंट बनाम टेलर* पर आधारित है; सदरलैंड्स स्टैच्यूटरी कंस्ट्रक्शन, तृतीय संस्करण, खंड 1, अनुच्छेद 2014 एवं 2022, पृष्ठ 468 एवं 490)। व्यापक रूप से कहा जाए तो, किसी निरसन एवं संशोधन अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य अप्रचलित विषय-वस्तु को हटाना, अनावश्यक प्रावधानों का परिमार्जन करना तथा स्पष्ट रूप से असंगत अधिनियमों को अस्वीकार करना होता है देखें, *मोहिन्दर सिंह बनाम हरभजन कौर*।"

92. *टी.एस. बालैयाह बनाम टी.एस. रंगाचारी, आयकर अधिकारी, केंद्रीय वृत्त-6, मद्रास*, [1969] 3 एससीआर 65 में, इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :

"... इस धारा का सिद्धांत यह है कि जब तक निरसनकारी अधिनियम में कोई भिन्न आशय प्रकट न हो, तब तक निरसित अधिनियम के अधीन लंबित किसी विषय के संबंध में कोई भी विधिक कार्यवाही इस प्रकार संस्थित और जारी रखी जा सकती है मानो निरसन के समय वह अधिनियम प्रवृत्त हो। दूसरे शब्दों में, जब भी किसी अधिनियम का निरसन होता है, तब सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 में विनिर्दिष्ट परिणाम लागू होंगे, जब तक कि स्वयं उस धारा में वर्णित अनुसार, निरसनकारी विधि में कोई भिन्न आशय प्रकट न हो। साधारण निरसन के मामले में विपरीत मत व्यक्त करने की शायद ही कोई गुंजाइश होती है। किन्तु जब निरसन के पश्चात उसी विषय पर नवीन विधि बनाई जाती है, तब न्यायालय को निःसंदेह नवीन अधिनियम के प्रावधानों का अवलोकन करना होगा, परंतु केवल यह निर्धारित करने के प्रयोजन से कि क्या वे किसी भिन्न आशय का संकेत करते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि नवीन अधिनियम ने पुरानी अधिकारों एवं दायित्वों को स्पष्ट रूप से जीवित रखा है या नहीं, बल्कि यह है कि क्या उसने उन्हें समाप्त करने का आशय व्यक्त किया है। अतः सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 तब तक लागू होगी जब तक नवीन विधि उस धारा के प्रावधानों से असंगत या उनके प्रतिकूल कोई आशय प्रकट न करे। ऐसी

असंगति का निर्धारण नवीन अधिनियम के सभी प्रासंगिक प्रावधानों पर विचार करके किया जाएगा और मात्र बचाव उपबंध के अभाव का अपने आप में कोई महत्व नहीं है। दूसरे शब्दों में, सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 के प्रावधान निरसन के मामलों में तब भी लागू होंगे, जब साथ-साथ पुनः अधिनियमन किया गया हो, जब तक कि नवीन अधिनियम से विपरीत आशय ग्रहण न किया जा सके ..."

93. *गजराज सिंह एवं अन्य बनाम राज्य परिवहन अपीलीय न्यायाधिकरण एवं अन्य*, [1997] 1 एससीसी 650 में, इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :

"24. जब किसी अधिनियम का निरसन और साथ ही पुनः अधिनियमन किया जाता है, तब सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 ऐसे मामले पर लागू होगी, जब तक कि निरसनकारी अधिनियम से विपरीत आशय ग्रहण न किया जा सके। ऐसे मामलों में धारा 6 तब तक लागू रहेगी जब तक नवीन विधि ऐसा आशय प्रकट न करे जो उस धारा के अनुप्रयोग से असंगत या उसके प्रतिकूल हो। ऐसी असंगति का निर्धारण नवीन अधिनियम के सभी प्रासंगिक प्रावधानों से किया जाएगा। अतः जब निरसन के पश्चात उसी विषय पर नवीन विधि बनाई जाती है, तब न्यायालय को निःसंदेह नवीन अधिनियम के प्रावधानों का अवलोकन केवल इस प्रयोजन से करना होगा कि क्या नवीन अधिनियम किसी भिन्न आशय का संकेत देता है। निरसन एवं पुनः अधिनियमन का उद्देश्य निरसित अधिनियम को विधि-पुस्तक से समाप्त करना तथा कुछ अप्रचलित विषयों से मुक्ति प्राप्त करना होता है।"

94. इस चरण पर हम यह भी उल्लेख कर सकते हैं कि जहाँ सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 निरसन के प्रभाव का प्रावधान करती है, वहीं उसकी धारा 24 निरसित एवं पुनः अधिनियमित अधिनियमों के अधीन जारी आदेशों के निरंतर प्रवर्तन का प्रावधान करती है। वे इस प्रकार हैं :

"6. निरसन का प्रभाव — जहाँ यह अधिनियम अथवा इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात बनाया गया कोई केंद्रीय अधिनियम या विनियम किसी ऐसे अधिनियम का निरसन करता है जो पूर्व में बनाया गया हो या भविष्य में बनाया जाए, तब, जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो, ऐसा निरसन—

(क) ऐसी किसी बात को पुनर्जीवित नहीं करेगा जो निरसन प्रभावी होने के समय प्रवृत्त या विद्यमान न हो; या

(ख) किसी ऐसे निरसित अधिनियम के पूर्व प्रवर्तन अथवा उसके अधीन विधिपूर्वक किए गए या भुगते गए किसी कार्य को प्रभावित नहीं करेगा; या

(ग) किसी ऐसे निरसित अधिनियम के अधीन अर्जित, उपार्जित या उपगत किसी अधिकार, विशेषाधिकार, बाध्यता या दायित्व को प्रभावित नहीं करेगा; या

(घ) किसी ऐसे निरसित अधिनियम के विरुद्ध किए गए अपराध के संबंध में उपगत किसी दंड, समपहरण या दंडादेश को प्रभावित नहीं करेगा; या

(ङ) उपर्युक्त किसी अधिकार, विशेषाधिकार, बाध्यता, दायित्व, दंड, समपहरण या दंडादेश के संबंध में किसी अन्वेषण, विधिक कार्यवाही या उपचार को प्रभावित नहीं करेगा;

और ऐसा कोई भी अन्वेषण, विधिक कार्यवाही या उपचार प्रारंभ, जारी या प्रवर्तित किया जा सकेगा तथा ऐसा कोई भी दंड, समपहरण या दंडादेश इस प्रकार अधिरोपित किया जा सकेगा मानो निरसनकारी अधिनियम या विनियम पारित ही न किया गया हो।

24. निरसित एवं पुनः अधिनियमित अधिनियमों के अधीन जारी आदेशों आदि का निरंतर प्रवर्तन — जहाँ इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात कोई केंद्रीय अधिनियम या विनियम निरसित कर दिया जाए और संशोधन सहित अथवा बिना संशोधन के पुनः अधिनियमित किया जाए, तब, जब तक अन्यथा स्पष्ट रूप से उपबंधित न हो,

निरसित अधिनियम या विनियम के अधीन की गई कोई नियुक्ति, जारी की गई कोई अधिसूचना, आदेश, योजना, नियम, प्ररूप या उपविधि, जहाँ तक वह पुनः अधिनियमित प्रावधानों से असंगत न हो, प्रवृत्त बनी रहेगी और यह मानी जाएगी कि वह पुनः अधिनियमित प्रावधानों के अधीन की गई या जारी की गई है, जब तक कि उसे पुनः अधिनियमित प्रावधानों के अधीन की गई किसी नियुक्ति, अधिसूचना, आदेश, योजना, नियम, प्ररूप या उपविधि द्वारा प्रतिस्थापित न कर दिया जाए; और जब कोई केंद्रीय अधिनियम या विनियम, जिसे अनुसूचित जिले अधिनियम, 1874 की धारा 5 या 5क अथवा किसी समरूप विधि के अधीन अधिसूचना द्वारा किसी स्थानीय क्षेत्र में विस्तारित किया गया हो, तत्पश्चात किसी अन्य अधिसूचना द्वारा उस क्षेत्र या उसके किसी भाग से वापस लेकर पुनः विस्तारित किया जाए, तब इस धारा के प्रयोजनार्थ ऐसे क्षेत्र या उसके भाग में उस अधिनियम या विनियम को निरसित एवं पुनः अधिनियमित माना जाएगा।"

95. तथापि, जो बात विशेष महत्व की है, वह यह है कि सामान्य खंड अधिनियम, 1897 की धारा 6 में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो" को वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (1) में सम्मिलित नहीं किया गया है। अतः वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधाराएँ (1) और (2) भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्रवर्तित होती हैं। जहाँ धारा 20 की उपधारा (1) के साथ संलग्न परंतुक वर्ष 1939 के अधिनियम तथा वर्ष 1962 के अधिनियम के निरसन से उत्पन्न परिणामों का प्रावधान करता है; वहीं धारा 20(2) कुछ कार्यों अथवा कार्यवाहियों की निरंतरता के लिए इस आधार पर एक वैधानिक कल्पना का सृजन करती है मानो उक्त अधिनियमों का निरसन हुआ ही न हो। वर्ष 1939 के अधिनियम तथा वर्ष 1962 के अधिनियम के निरसन का परिणाम उनके अधीन जारी अधिसूचनाओं के निरसन के रूप में भी होगा। तथापि, वर्ष 2003 के अधिनियम

की धारा 20(1) के परंतुक द्वारा उससे उत्पन्न परिणामों के संबंध में एक अपवाद निर्मित किया गया है।

96. यदि, जैसा कि हमने अभिनिर्धारित किया है, वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधाराएँ (1) और (2) भिन्न क्षेत्रों में प्रवर्तित होती हैं, तो हमारे मत में धारा 20 का सीमांत शीर्षक, अर्थात् "निरसन एवं बचाव", कोई विशेष महत्व नहीं रखता। यदि 2003 के अधिनियम की धारा 20 की दोनों उपधाराएँ परस्पर आश्रित नहीं हैं और विशेषतः उनमें प्रयुक्त शब्दावली को दृष्टिगत रखते हुए, उन्हें एक साथ पढ़ा जाना आवश्यक नहीं है। किसी अधिनियम के प्रावधानों का वाचन इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि कोई विसंगति उत्पन्न होगी और तत्पश्चात यह आग्रह किया जाए कि उन्हें एक साथ पढ़ा जाना चाहिए।

97. श्री अंध्यारुजिना का यह तर्क कि इस न्यायालय को वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (1) में "जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्दों का समावेश मानकर पढ़ना चाहिए, हमारे मत में विधि की दृष्टि से अनुमेय नहीं है। वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 14 का निर्वचन करते समय हमने श्री नरीमन के उस समान तर्क को अस्वीकार कर दिया है जिसमें हमें संकुचित निर्वचन कर तथाकथित प्रयोजनपरक निर्वचन के सिद्धांत को लागू करने का आग्रह किया गया था। हम वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 के निर्वचन के संबंध में भिन्न कसौटियाँ लागू करने का कोई आशय नहीं रखते। किसी विशिष्ट अधिनियम में शब्दों का लोप महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। जैसा कि सुविदित है, विधायिका के आशय का निर्धारण प्रथम दृष्टया अधिनियम में प्रयुक्त शब्दों से किया जाना चाहिए और केवल तभी, जब ऐसा नियम किसी विसंगतिपूर्ण स्थिति को जन्म दे, न्यायालय प्रयोजनपरक निर्वचन का आश्रय ले सकता है। यह भी विधि का सुव्यवस्थित सिद्धांत है कि विधायी रिक्तता की पूर्ति न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती। [देखें, *जे. श्रीनिवास राव बनाम आंध्र प्रदेश सरकार एवं एक अन्य*, [2006] 13 स्केल 27]

98. यद्यपि वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (1) के साथ संलग्न परंतुक अपने उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 को समाविष्ट करता है, तथापि उससे एक महत्वपूर्ण विचलन को ध्यान में रखा जाना चाहिए। यदि विधायिका ने भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है अथवा कुछ शब्दों का लोप किया है, तो हमारे मत में उसमें "जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्दों को निहित मानकर नहीं पढ़ा जा सकता। यह संभव है कि वर्ष 2003 के अधिनियम के प्रावधान वर्ष 1962 के अधिनियम से स्पष्टतः भिन्न हों, किन्तु हमें यह मानना होगा कि विधायिका ने ऐसा जानबूझकर किया है। हमारे मत में, वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (1) और उपधारा (2) के मध्य भेद स्थापित करने में विधायिका का आशय स्पष्ट है। यह तथ्य कि "जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो" जैसे महत्वपूर्ण शब्द अथवा उससे असंगत कोई प्रावधान अधिनियम में नहीं है, विधायिका के संज्ञान में था। जहाँ धारा 20 की उपधारा (1) में उसने ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की, वहीं उपधारा (2) का अधिनियमन करते समय उसने ऐसा किया।

99. उक्त शब्दों का निर्वचन करते समय हमें सर्वप्रथम वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 14 का निर्वचन करना आवश्यक होगा। "तदनुरूप" शब्द का अर्थ "सामंजस्य में होना", "समान या अनुरूप होना" अथवा "अभिन्न होना" हो सकता है, जैसा कि *एच.वी. मथाई बनाम अधीनस्थ न्यायाधीश, कोट्टायम एवं अन्य,* [1969] 2 एससीसी 194 में अभिनिर्धारित किया गया है।

100. स्ट्राउड्स ज्युडिशियल डिक्शनरी, द्वितीय संस्करण, खंड-1, पृष्ठ 355 में प्रयुक्त "अनुरूप होना" शब्द का अर्थ "सामंजस्य स्थापित करना" अथवा "अभिन्न होना" बताया गया है।

101. किन्तु, हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि जहाँ वर्ष 1939 के अधिनियम में विद्युत ऊर्जा के विक्रय के संबंध में कर से छूट का कोई प्रावधान नहीं था, वहीं वर्ष 1962 के

अधिनियम की धारा 13, जो विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर कराधान से संबंधित थी, उसके लिए स्पष्ट रूप से प्रावधान करती थी। दूसरी ओर, वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 14, वर्ष 1939 के अधिनियम के प्रावधानों से भिन्न, ऊर्जा के विक्रय के संबंध में छूट प्रदान करने का उपबंध करती है। यह विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर छूट प्रदान करने की उस शक्ति को समाप्त कर देती है, जो वर्ष 1962 के अधिनियम के अधीन स्पष्ट रूप से उपलब्ध थी। क्या एक ओर वर्ष 1939 का अधिनियम तथा वर्ष 1962 का अधिनियम और दूसरी ओर वर्ष 2003 का अधिनियम समान अथवा अभिन्न प्रावधानों वाले कहे जा सकते हैं? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। एक बार यह मान लिया जाए कि वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 14 में वर्ष 1939 एवं 1962 के अधिनियमों के प्रासंगिक प्रावधानों के अनुरूप कोई उपबंध नहीं है, तो हमारे मत में वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20 की उपधारा (2) का कोई अनुप्रयोग नहीं होगा। यदि धारा 20(2) का अनुप्रयोग नहीं होगा, तो धारा 20(1) लागू होगी। और जब धारा 20(1) लागू पाई जाती है, तब "जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो" शब्दों का अभाव अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।

102. यदि ऐसा है, तो धारा 20(1) के साथ संलग्न परंतुक और उसकी उपधारा (2) के बीच कोई संघर्ष नहीं रह जाता। उस स्थिति में, वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20(2) प्रभावी होगी।

103. अतः, हमारे मत में, उच्च न्यायालय ने यह मानकर कि दोनों प्रावधान एक ही परिस्थिति से संबंधित हैं, स्पष्ट त्रुटि की है। इसके अतिरिक्त, वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20(2) में "ऐसे निरसन के होते हुए भी" शब्दों का प्रयोग किया गया है; अतः इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह धारा 20(1) में निहित किसी बात के होते हुए भी लागू होगी।

104. उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँच जाने के पश्चात् धारा 20(1) के साथ संलग्न परंतुक का उसके स्वयं के शब्दों में पृथक निर्वचन करना आवश्यक नहीं रह जाता। जैसा कि

सुविदित है, परंतुक के चार कार्य होते हैं, जैसा कि इस न्यायालय ने *एस. सुंदरम पिल्लै बनाम वी.आर. पट्टाभिरामन,* [1985] 1 एससीसी 591 में निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है :

> "43. (1) मुख्य अधिनियमन के कुछ प्रावधानों को सीमित करना अथवा उनसे अपवाद निर्मित करना;
>
> (2) अधिनियमन को क्रियाशील बनाने के लिए कुछ अनिवार्य शर्तों के पालन पर बल देकर उसके अभिप्राय की संपूर्ण अवधारणा को परिवर्तित कर देना;
>
> (3) अधिनियम में इस प्रकार अंतर्निहित होना कि वह स्वयं अधिनियमन का अभिन्न अंग बन जाए और इस प्रकार मूल अधिनियमन का स्वरूप एवं रंग ग्रहण कर ले; तथा
>
> (4) केवल अधिनियम के वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट करने के उद्देश्य से एक वैकल्पिक परिशिष्ट के रूप में प्रयुक्त होना।"
>
> [यह भी देखें, *स्वीडिश मैच एबी बनाम भारतीय प्रतिभूति और विनिमय समिति,* [2004] 11 एससीसी 641]

105. वर्तमान प्रकृति के मामले में परंतुक निरसन उपबंध के प्रवर्तन को सीमित करता है। इसका उद्देश्य निरसन के बावजूद उसमें विनिर्दिष्ट विषय-वस्तु का संरक्षण करना है। सामान्य खंड अधिनियम की धारा 6 भी यही उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयास करती है, बशर्ते कि निरसनकारी अधिनियम में निरसित अधिनियमों से असंगत कोई प्रावधान न हो।

106. वर्ष 1962 का अधिनियम विद्युत के उपभोग पर अधिरोपित विद्युत कर से छूट प्रदान करने का उपबंध करता था। जब सक्षम प्राधिकारी द्वारा कोई अधिसूचना जारी की जाती थी, तो उसे प्रभाव और उद्देश्य दिया जाना आवश्यक था। उसके अधीन जारी अधिसूचना "विधिपूर्वक किया गया कोई कार्य" शब्दों के दायरे में आने वाला कार्य मानी जा सकती है।

107. हमारे मत में यह तर्क सही नहीं है कि केवल इसलिए कि वर्ष 2003 के अधिनियम की धारा 20(2) में अधिसूचना का उल्लेख किया गया है, जहाँ कहीं भी अधिसूचना जारी की गई हो वहाँ उसकी धारा 20(1) का कोई अनुप्रयोग नहीं रहेगा।

108. हम श्री अंध्यारुजिना के इस तर्क से भी सहमत नहीं हो सकते कि कर से छूट मात्र सरकार द्वारा प्रदत्त एक रियायत है जिसे कभी भी समाप्त किया जा सकता है और इससे प्राप्तकर्ता को कोई उपार्जित अधिकार प्राप्त नहीं होता। विधिपूर्वक जारी अधिसूचना के आधार पर प्राप्त कर-छूट एक उपार्जित अधिकार को जन्म देती है। यह एक निहित अधिकार है। ऐसा अधिकार उन्हें स्थायी रूप से प्रदान किया गया था। "स्थायित्व" का अर्थ है — जब तक कि विधि द्वारा उसमें परिवर्तन न कर दिया जाए।

109. अतः, जब कोई अधिकार उपार्जित अथवा निहित हो जाता है, तो उसे केवल किसी विधि के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। इसलिए, विधिपूर्वक जारी की गई अधिसूचना तब तक प्रभावी बनी रहेगी जब तक उसका निरसन न कर दिया जाए।

110. तथापि, श्री अंध्यारुजिना ने यह तर्क दिया कि "विधिपूर्वक किया गया कोई कार्य" शब्दों को सीमित अर्थ प्रदान किया जाना चाहिए। उन्होंने एफ.ए.आर. बेनियन द्वारा रचित "सांविधिक निर्वचन – एक संहिता", तृतीय संस्करण, पृष्ठ 229 का उल्लेख किया, जिसमें कहा गया है :

> "कंडिका (ii) — यह निर्वचन अधिनियम, 1978 की धारा 16(1)(ख) से उद्धृत है। 'विधिपूर्वक किया गया कोई कार्य' का संदर्भ इस आवश्यकता से बचने के लिए है कि प्रक्रियात्मक विषयों, जैसे कि सूचना देना, को पुनः संपादित करना पड़े।
>
> उदाहरण 89.3 — निर्वचन अधिनियम, 1978 की धारा 16 ने प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम, 1974 की धारा 58(1) के अधीन जारी ध्वनि-उपद्रव सूचना के प्रभाव को,

उसके निरसन तथा पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1990 की धाराओं 162 एवं 164(2) तथा अनुसूची 16 भाग-III द्वारा प्रतिस्थापन के पश्चात भी संरक्षित रखा।"

111. हमारे मत में, वहाँ विधि का प्रतिपादन सर्वसमावेशी नहीं है, क्योंकि विभिन्न प्रकार के परिणामों को संबंधित सांविधिक प्रावधान की प्रकृति के अनुसार ध्यान में रखकर लागू किया जाना आवश्यक होता है।

112. श्री अंध्यारुजिना ने विधियों के निर्वचन पर मैक्सवेल, द्वादश संस्करण, पृष्ठ 18 पर भी निर्भरता व्यक्त की, जिसमें कहा गया है :

"जब किसी अधिनियम का निरसन किया जाता है, तो उसके अधीन निर्मित कोई भी प्रत्यायोजित विधान, जब तक उसे स्पष्ट रूप से संरक्षित न किया गया हो, उस अधिनियम के साथ ही समाप्त हो जाता है। तथापि, जहाँ अधीनस्थ विधान को प्रभावी बनाए रखा जाता है, वहाँ सामान्य नियम यह है कि उसकी परिधि और उसका निर्वचन उसी निरसित अधिनियम के अनुसार निर्धारित किया जाएगा जिसके अधीन वह निर्मित किया गया था।"

113. वहाँ प्रतिपादित विधिक स्थिति हमारे उपर्युक्त निष्कर्षों के प्रतिकूल नहीं है। निर्वचन प्रत्येक अधिनियम की प्रकृति के अनुसार भिन्न हो सकता है।

114. इस स्तर पर, *मेसर्स यूनिवर्सल इम्पोर्ट्स एजेंसी* (उपरोक्त) में इस न्यायालय के निर्णय का उल्लेख करना उपयुक्त होगा। उस मामले में, 1 नवम्बर 1954 को भारत तथा फ्रांस के मध्य संपन्न भारत-फ्रांस समझौते के अधीन, फ्रांसीसी बस्तियों का समस्त प्रशासन भारत सरकार में निहित हो गया था। परिणामस्वरूप, पुदुच्चेरी अधिकांश आयातों के संबंध में बिना किसी प्रतिबंध वाला मुक्त बंदरगाह बन गया। तथापि, 30 अक्टूबर 1954 की अधिसूचना द्वारा पुदुच्चेरी के आयातकों के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे आयात हेतु अपने पास उपलब्ध अनुज्ञप्तियों का प्रमाणीकरण प्राप्त करें; ऐसा न करने पर उनके द्वारा आयातित माल जब्त कर लिया गया।

115. उक्त समझौते का खंड 6 इस प्रकार है :

"जब तक अनुसूची में अन्यथा विशेष रूप से उपबंधित न किया गया हो, प्रारंभ आदेश के लागू होने से ठीक पूर्व फ्रांसीसी बस्तियों में प्रभावी सभी विधियाँ, जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट अधिनियमनों के अनुरूप हैं, ऐसे प्रारंभ से प्रभावहीन हो जाएँगी; तथापि, ऐसे प्रारंभ से पूर्व किए गए अथवा न किए गए कार्यों के संबंध में उनका प्रभाव बना रहेगा।"

116. उक्त प्रावधान का विश्लेषण करते हुए इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :

"... खंड 6 में प्रयुक्त 'किए गए कार्य' शब्दों का युक्तियुक्त निर्वचन किया जाना चाहिए और यदि ऐसा किया जाए तो उनका अर्थ केवल किए गए कार्यों तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि उनसे उत्पन्न होने वाले विधिक परिणामों को भी समाहित करेगा। यदि उत्तरदाताओं के अधिवक्ता द्वारा सुझाए गए निर्वचन को स्वीकार कर लिया जाए, तो संरक्षण उपबंध अनावश्यक हो जाएगा। यदि वह केवल निष्पादित संविदाओं को ही संरक्षित करता है, अर्थात् वे संविदाएँ जिनके अधीन माल विलय से पूर्व आयात कर क्रेता को प्राप्त हो चुका था, तो किसी अतिरिक्त संरक्षण की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि सामान्यतः पूर्ववर्ती विधि के अधीन उन संविदाओं के प्रवर्तन का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। प्रयुक्त शब्दावली कोई नवीनता नहीं है, बल्कि अन्य सांविधिक उपबंधों से ग्रहण की गई है। सामान्य खंड अधिनियम, (1897/10) की धारा 6 उपबंध करती है कि जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो, किसी अधिनियम का निरसन उसके अधीन विधिपूर्वक किए गए अथवा भुगते गए किसी कार्य को प्रभावित नहीं करेगा...।"

117. इस प्रकार, इस न्यायालय ने उक्त शब्दों को उदार एवं व्यापक निर्वचन प्रदान किया।

118. इसी प्रकार का दृष्टिकोण इस न्यायालय ने *श्री राम प्रसाद* (उपरोक्त) में भी अपनाया, जहाँ नियम बनाने की शक्ति को संविधान के अनुच्छेद 357(2) के अर्थ में किया गया कार्य माना गया।

119. *हरनेक सिंह बनाम पंजाब राज्य* (उपरोक्त) में इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :

> "16. धारा 6 के खंड (ख) में प्रयुक्त 'उसके अधीन विधिपूर्वक किया गया अथवा भुगता गया कोई कार्य' शब्दों का प्रयोग विधायिका प्रायः संरक्षण उपबंधों में करती है, जिनका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होता है कि जब तक कोई भिन्न आशय प्रकट न हो, किसी अधिनियम का निरसन उसके अधीन विधिपूर्वक किए गए अथवा भुगते गए किसी कार्य को प्रभावित न करे। इस न्यायालय ने *हसन नूरानी मलाक बनाम एस.एम. इस्माइल, सहायक धर्मार्थ आयुक्त, नागपुर* में यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसे संरक्षण उपबंध का उद्देश्य निरसित अधिनियम के अधीन पूर्व में किए गए कार्यों को सुरक्षित रखना है। ऐसे संरक्षण उपबंध का परिणाम यह होता है कि पूर्ववर्ती विधि उस तिथि से पूर्व किए गए कार्यों पर शासन करती रहती है, जिस तिथि से उसका निरसन प्रभावी होता है। *यूनिवर्सल इम्पोर्ट्स एजेंसी बनाम मुख्य आयात एवं निर्यात* नियंत्रक में इस न्यायालय ने 'किए गए कार्य' शब्दों का निर्वचन करते हुए कहा कि इस अभिव्यक्ति का उचित अर्थ इतना व्यापक है कि उसमें न केवल किए गए कार्य, बल्कि उनसे उत्पन्न विधिक परिणाम भी सम्मिलित हैं।"

120. इसके अतिरिक्त, वर्तमान अपीलकर्ताओं के पक्ष में कर के भुगतान से छूट भी एक अधिकार अथवा विशेषाधिकार का गठन करती है। "विशेषाधिकार" शब्द का अर्थ "अधिकार" की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कोई अधिकार निहित अधिकार, उपार्जित अधिकार अथवा अर्जित अधिकार हो सकता है। ऐसे अधिकार की प्रकृति संबंधित अधिनियम पर निर्भर करती है तथा एक अधिनियम से दूसरे अधिनियम में भिन्न भी हो सकती है। इस न्यायालय

ने सामान्य खंड अधिनियम, 1897 की धारा 6 का निर्वचन करते हुए *मेसर्स गुरचरण सिंह बलदेव सिंह बनाम यशवंत सिंह एवं अन्य*, [1992] 1 एससीसी 428 में यह प्रतिपादित किया है :

> "... इस उपबंध का उद्देश्य निरसित अधिनियम के अधीन अर्जित किसी अधिकार अथवा विशेषाधिकार का संरक्षण सुनिश्चित करना है। इसका एकमात्र अपवाद इसके विपरीत विधायी आशय है। अर्थात्, निरसनकारी अधिनियम स्पष्ट रूप से अथवा आवश्यक निहितार्थ द्वारा ऐसे अधिकार, दायित्व अथवा उत्तरदायित्व के निरंतर अस्तित्व के विरुद्ध उपबंध कर सकता है ..."

121. तथापि, वर्तमान प्रकृति के मामले में हम वास्तव में इस प्रश्न से संबंधित नहीं हैं कि क्या कोई अपूर्ण अथवा प्रारंभिक अधिकार भी संरक्षण उपबंध का विषय हो सकता है। हमारे मत में, ऐसा प्रश्न यहाँ विचारणीय नहीं है।

122. हम अधिनियम के विधायी इतिहास का उल्लेख कर चुके हैं। जहाँ 1939 के अधिनियम में विद्युत ऊर्जा के विक्रय पर विद्युत कर के भुगतान से छूट प्रदान करने का कोई उपबंध नहीं था, वहीं 1962 के अधिनियम में इस संबंध में दो उपबंध थे। पहला, धारा 12 में, जो उच्च-दाब आपूर्ति के अंतर्गत मुख्य उत्पाद के उत्पादन से संबंधित था; तथा दूसरा, धारा 13 में, जो छूट प्रदान करने की सामान्य शक्ति से संबंधित था।

123. 1962 का अधिनियम प्रवृत्त होने के पश्चात्, जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, सरकार ने दिनांक 30.04.1979 की जी.ओ.एम्स. संख्या 787 अधिसूचना जारी कर विद्युत कर को मूल टैरिफ में समाहित कर दिया। वर्ष 1991 में 1962 के अधिनियम में संशोधन किया गया, जिसके द्वारा 5 प्रतिशत की अतिरिक्त कराधान व्यवस्था लागू की गई।

124. लगभग 22.10.1991 को भारत सरकार के विद्युत मंत्रालय ने विद्युत क्षेत्र में निजी भागीदारी संबंधी नीति प्रकाशित की, जिसके परिणामस्वरूप 1948 के अधिनियम में ऐसे उपबंध किए गए जिनसे उत्पादन कंपनियों तथा स्व-उपयोग विद्युत उत्पादन संयंत्रों की

स्थापना की अनुमति दी गई। निर्विवाद रूप से, तमिलनाडु सरकार ने चीनी मिलों तथा अन्य उद्योगों में सह-उत्पादन द्वारा विद्युत उत्पादन के प्रश्न का परीक्षण करने तथा इस संबंध में अनुशंसाएँ देने हेतु एक समिति गठित की, जिसके संदर्भ-निर्देशों में "तमिलनाडु विद्युत समिति द्वारा सह-उत्पादन करने वाली चीनी मिलों से क्रय की जाने वाली विद्युत के मूल्य निर्धारण की कार्यप्रणाली विकसित करना" आदि सम्मिलित थे। यह विवादित नहीं है कि सह-उत्पादन करने वाली चीनी मिल अन्य स्व-उपयोग विद्युत उत्पादन संयंत्रों के समान नहीं होती, क्योंकि सामान्यतः ऐसी चीनी मिल उत्पादित विद्युत का केवल 30 % स्वयं उपभोग करती है तथा शेष 70 % का विक्रय किया जाता है।

125. उक्त समिति ने अपनी प्रतिवेदन में यह अनुशंसा की कि उत्पादन कर से छूट विद्युत उपभोग तथा ग्रिड/तृतीय पक्षों को आपूर्ति की जाने वाली विद्युत, दोनों पर प्रदान की जाए। यह भी अनुशंसा की गई कि तमिलनाडु विद्युत समिति औद्योगिक उपभोक्ताओं से वसूल किए जाने वाले उच्च-दाब-प्रथम श्रेणी टैरिफ के बराबर मूल्य का भुगतान करे, जिसमें पारेषण व्यय के रूप में 2 % की कटौती की जाए।

126. तथापि, राज्य सरकार ने उक्त समिति की समस्त अनुशंसाओं को स्वीकार नहीं किया। दिनांक 16.06.1993 की अधिसूचना द्वारा राज्य ने प्रतिवेदन के एक भाग को स्वीकार करते हुए निर्देश दिया कि तमिलनाडु विद्युत समिति औद्योगिक उपभोक्ताओं से वसूल किए जाने वाले उच्च-दाब-प्रथम श्रेणी टैरिफ के बराबर मूल्य का भुगतान करेगा, जिसमें पारेषण व्यय के रूप में 2 % की कटौती की जाएगी। साथ ही, विद्युत सामान्य कर के भुगतान से निम्नलिखित शब्दों में छूट प्रदान की गई :

> "सह-उत्पादन करने वाली चीनी मिलों को, स्वयं उपभोग की जाने वाली विद्युत तथा तमिलनाडु विद्युत समिति एवं अन्य तृतीय पक्षों को आपूर्ति की जाने वाली विद्युत, दोनों के संबंध में विद्युत उत्पादन कर से छूट प्रदान की जाएगी।"

127. अधिनियम संख्या 43 सन् 1994 द्वारा, उपभोग पर कर की दर को युक्तिसंगत बनाने के उद्देश्य से, अतिरिक्त कर की दर 4 % से बढ़ाकर 5 % कर दी गई, किन्तु दिनांक 16.06.1993 की जी.ओ.एम्स. संख्या 230 को निरसित नहीं किया गया।

128. दिनांक 09.10.1995 को भारत सरकार के विद्युत मंत्रालय ने सभी राज्य विद्युत बोर्डों तथा राज्य सरकारों को पत्र लिखकर स्व-उपयोग/सह-उत्पादन विद्युत संयंत्रों की क्षमता का उपयोग करने हेतु आवश्यक कदम उठाने का आग्रह किया, क्योंकि ऊर्जा की उपलब्धता में 15 प्रतिशत की कमी तथा उच्चतम मांग के समय 30 % की कमी का अनुमान लगाया गया था। अतः राज्य सरकारों से अनुरोध किया गया कि वे उक्त कमी की पूर्ति के लिए संस्थागत व्यवस्था विकसित करें।

129. लगभग 23 सितम्बर 1996 को तमिलनाडु सरकार ने जी.ओ.एम्स. संख्या 126 नामक निम्नलिखित छूट अधिसूचना जारी की :

> "तमिलनाडु विद्युत (उपभोग पर कराधान) अधिनियम, 1962 (तमिलनाडु अधिनियम संख्या 4 सन् 1962) की धारा 13 की उपधारा (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, तमिलनाडु के राज्यपाल यह निर्देश देते हैं कि कागज, वस्त्र, रासायनिक तथा चीनी उद्योगों द्वारा, उनके द्वारा प्रयुक्त ईंधन के प्रकार की परवाह किए बिना, स्व-उत्पादित विद्युत ऊर्जा का स्व-उपयोग हेतु उपभोग, उक्त अधिनियम के अधीन देय विद्युत कर से स्थायी रूप से मुक्त रहेगा। राज्यपाल यह भी निर्देश देते हैं कि सूर्य, पवन आदि जैसे अपारंपरिक ऊर्जा स्रोतों से उत्पन्न ऊर्जा के उपभोग को भी उक्त अधिनियम के अधीन देय विद्युत कर से मुक्त रखा जाएगा।"

130. अपीलकर्ताओं का कथन है कि उक्त अधिसूचना पर विश्वास करते हुए तथा उसके आधार पर उन्होंने विद्युत उत्पादन संयंत्रों की स्थापना हेतु विशाल राशि का निवेश किया। उदाहरणार्थ, केवल चीनी उद्योगों द्वारा ही इस उद्देश्य से लगभग 745.64 करोड़ रुपये का निवेश किया गया बताया गया है, जिसका विवरण निम्नानुसार है :

क्रम सं.	चीनी मिल का नाम	परियोजना लागत (रु. करोड़ में)
1	ई.आई.डी. पैरी (इंडिया) लिमिटेड	265.00
2	थिरु अरूरन शुगर्स लिमिटेड / टेरा एनर्जी लिमिटेड	104.00
3	श्री अंबिका शुगर्स लिमिटेड	161.00
4	राजश्री शुगर्स एंड केमिकल्स लिमिटेड	86.64
5	शक्ति शुगर्स लिमिटेड	96.00
6	कोठारी शुगर्स एंड केमिकल्स लिमिटेड	33.00
	कुल :	745.64

ग्रासिम इंडस्ट्रीज़ द्वारा अकेले ही लगभग 37 करोड़ रुपये का निवेश किया गया बताया गया है।

131. अपीलकर्ताओं का कथन है कि टैरिफ की निम्न दर जानबूझकर निर्धारित की गई थी, क्योंकि राज्य का उद्देश्य विद्युत कर के भुगतान से स्थायी छूट प्रदान करना था। उनके अनुसार, यह तथ्य निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट होता है :

दिनांक	टीएनईबी दर (मौसम) (रु.)	टीएनईबी दर (ऑफ-सीज़न) (रु.)	एचटी-1 टैरिफ (रु.)	उपभोग पर अनुमानित कर (रु.)	शुद्ध दर (रु.)
01.04.1995	2.25		2.40	0.05	2.35
01.04.1996	2.36		2.80	0.05	2.75

दिनांक	टीएनईबी दर (मौसम) (रु.)	टीएनईबी दर (ऑफ-सीज़न) (रु.)	एचटी-1 टैरिफ (रु.)	उपभोग पर अनुमानित कर (रु.)	शुद्ध दर (रु.)
01.04.1997	2.48		2.80	0.05	2.75
01.04.1998	2.60		2.80	0.06	2.74
20.07.1998	2.60		3.20	0.06	3.14
01.04.1999	2.73		3.20	0.07	3.13
01.04.2000	2.73	2.48	3.40	0.07	3.33
01.04.2001	2.87	2.60	3.40	0.07	3.33
01.04.2002	2.88	2.73	3.20	0.07	3.13
16.03.2003	3.01	2.73	3.50	0.08	3.42

टिप्पणियाँ : 1. 16.03.2003 के पश्चात् वही दर प्रभावी रही, क्योंकि 11.01.2000 की टीएनईबी समिति कार्यवाही के अनुसार टीएनईबी दर को एचटी-1 टैरिफ के 90% तक सीमित कर दिया गया था।

2. सह-उत्पादन (को-जनरेशन) में कुल उत्पन्न विद्युत का 30% भाग स्व-उपभोग हेतु प्रयुक्त होता है तथा 70% भाग टीएनईबी को आपूर्ति किया जाता है। अतः उपभोग पर 5% कर, टीएनईबी को आपूर्ति की गई विद्युत पर लगभग 2.14% के समतुल्य होता है। उपर्युक्त कर की गणना इसी आधार पर की गई है।

वचनबद्ध प्रतिषेध का प्रश्न

132. उक्त पृष्ठभूमि में वचनबद्ध प्रतिषेध के सिद्धांत का आह्वान किया गया है। हम आगे यह उल्लेख करेंगे कि वचनबद्ध प्रतिषेध के सिद्धांत के प्रयोग से किसी अधिकार का संरक्षण भी किया जा सकता है।

133. तथापि, श्री टी.आर. अंध्यारुजिना का तर्क है कि किसी विधि के विरुद्ध प्रतिषेध लागू नहीं हो सकता और किसी भी स्थिति में 1962 के अधिनियम की धारा 13 की उपधारा (1) के अधीन प्रदत्त छूट, उसकी उपधारा (2) के अधीन निरस्तीकरण अथवा परिवर्तन के अधीन थी।

134. उक्त सिद्धांत के विकास के संबंध में बार के समक्ष उद्धृत सभी निर्णयों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनमें से अधिकांश पर इस न्यायालय ने हाल ही में *मैसर्स ए.पी. स्टील री-रोलिंग मिल लिमिटेड बनाम केरल राज्य एवं अन्य*, (2006) 14 स्केल 162 में विचार किया है।

135. वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत निःसंदेह उस स्थिति में लागू होगा, जहाँ कोई उद्यमी राज्य द्वारा किए गए उस आश्वासन के अनुसरण में अथवा उसके आधार पर अपनी स्थिति में परिवर्तन कर लेता है, जिसके अंतर्गत उसे, अन्य बातों के साथ, तत्कालीन टैरिफ के आधार पर करों अथवा प्रभारों के भुगतान से छूट प्रदान की जानी हो। राज्य की ऐसी नीतिगत निर्णय केवल वैधानिक उपबंधों के अधीन जारी अधिसूचनाओं द्वारा ही नहीं, बल्कि कार्यपालिका निर्देशों द्वारा भी व्यक्त किए जा सकते हैं। अपीलकर्ता निःसंदेह सह-उत्पादन विद्युत संयंत्रों के संबंध में विद्युत ऊर्जा के विक्रय/उपभोग पर कर के भुगतान से प्राप्त लाभ का उपभोग कर रहे थे।

136. साधारण प्रतिषेध से भिन्न, वचनबद्ध प्रतिषेध वाद-कारण (कारण-ए-दावा) उत्पन्न करता है। यह निर्विवाद रूप से एक अधिकार सृजित करता है। यह साम्य (इक्विटी) के सिद्धांत पर भी आधारित है। तथापि, इसका प्रयोग संवैधानिक अथवा वैधानिक उपबंधों के विरुद्ध विधि में अनुमेय नहीं है। इस पक्ष पर *बिहार राज्य एवं अन्य बनाम प्रोजेक्ट उच्च*

विद्या, शिक्षक संघ एवं अन्य, [2006] 2 एससीसी 545 में विचार किया गया था, जहाँ कहा गया :

"77. हमें उत्तरदाताओं की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्ता द्वारा प्रस्तुत इस तर्क में कोई बल नहीं प्रतीत होता कि साम्याधारित प्रतिषेध का सिद्धांत बिहार राज्य के विरुद्ध लागू होगा। अब यह सुविदित है कि जहाँ किसी संवैधानिक उपबंध अथवा विधि के संबंध में विवाद उठाया जाता है, वहाँ प्रतिषेध का सिद्धांत लागू नहीं होता। भारत की संवैधानिक व्यवस्था के अधीन राज्य को यह प्रश्न उठाने का अधिकार कि उसकी कोई कार्रवाई अवैध है, अब भली-भाँति मान्य है। यदि किसी संवैधानिक उपबंध के कारण उसकी कार्रवाई का समर्थन नहीं किया जा सकता, अथवा राज्य किसी नीतिगत निर्णय को वापस लेना या संशोधित करना चाहता है, तो उस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। यह एक बात है कि ऐसी कार्रवाई का परीक्षण किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों के संदर्भ में किया जाए, परंतु यह सर्वथा भिन्न बात है कि प्रतिषेध के सिद्धांत को लागू करके राज्य को यह प्रश्न उठाने से ही वंचित कर दिया जाए। जहाँ तक 18-02-1989 के आक्षेपित परिपत्र का संबंध है, हमारे मत में राज्य को संवैधानिक ढाँचे के अनुरूप उसकी वैधता का समर्थन करने का अधिकार है।"

137. पुनः, *महाबीर वेजिटेबल ऑयल्स (प्रा.) लिमिटेड एवं एक अन्य बनाम हरियाणा राज्य एवं अन्य*, [2006] 3 एससीसी 620 में यह कहा गया : ...

"38. अतः विधि के माध्यम से किए गए आश्वासन/अभ्यावेदन उस क्षेत्र में प्रभावी बने रहे। यह सत्य हो सकता है कि अपीलकर्ताओं ने अपनी स्थिति में परिवर्तन केवल अगस्त, 1996 से किया हो, किन्तु यह न तो अस्वीकार किया गया है और न ही विवादित है कि प्रासंगिक अवधि, अर्थात् अगस्त, 1996 से 16-12-1996 के मध्य, उन्होंने न केवल भारी धनराशि का निवेश किया, बल्कि राज्य के प्राधिकारियों ने भी लाभ स्वीकृत किए तथा अनुमतियाँ प्रदान कीं। पक्षकारों ने अन्य ऐसे कदम भी उठाए

जो केवल एक नवीन औद्योगिक इकाई की स्थापना के उद्देश्य से ही उठाए जा सकते थे। कोई उद्यमी, जो किसी पिछड़े क्षेत्र में उद्योग स्थापित करता है, यदि अन्यथा निषिद्ध न हो, तो राज्य द्वारा किए गए आश्वासनों अथवा अभ्यावेदनों के अनुसरण में अथवा उनके आधार पर अपनी स्थिति में परिवर्तन करने का अधिकारी है। राज्य ने स्वयं यह स्वीकार किया कि साम्य का सिद्धांत उद्यमियों के पक्ष में कार्य करता है, क्योंकि उसने 16-12-1996 की अधिसूचना में टिप्पणी-2 जारी की, जिसके द्वारा और जिसके अधीन पहली बार विलायक निष्कर्षण संयंत्र को अनुसूची-III अर्थात् निषेधात्मक सूची में सम्मिलित किया गया।"

138. तथापि, हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि पूर्ववर्ती निर्णयों का सर्वेक्षण भी इस न्यायालय द्वारा *पंजाब राज्य बनाम नेस्ले इंडिया लिमिटेड एवं एक अन्य*, [2004] 6 एससीसी 465 में किया गया था, जिसमें विधि को निम्न प्रकार प्रतिपादित किया गया :

"25. अन्य शब्दों में, वचनबद्ध प्रतिषेध, जिसे दीर्घकाल से साम्य के क्षेत्र में एक वैध प्रतिरक्षा के रूप में मान्यता प्राप्त थी, सरकार के विरुद्ध वाद-कारण का आधार माना गया, यहाँ तक कि और इस तथ्य पर विशेष बल दिया जाना चाहिए जिस अभ्यावेदन को प्रवर्तित कराने का प्रयास किया गया, वह इस अर्थ में विधिक रूप से अवैध था कि वह विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुरूप नहीं किया गया था।"

139. *मोतीलाल पदमपत शुगर मिल्स कंपनी लिमिटेड बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, [1979] 2 एससीसी 409 का उल्लेख करते हुए इस न्यायालय ने कहा :

"29. जहाँ तक इसकी शक्ति का प्रश्न है, यह कहा गया कि यह सिद्धांत केवल उन मामलों तक सीमित नहीं है जहाँ पक्षकारों के मध्य कोई संविदात्मक संबंध अथवा अन्य पूर्ववर्ती विधिक संबंध विद्यमान हो। यह सिद्धांत उन स्थितियों में भी लागू होगा जहाँ वचन का उद्देश्य विधिक संबंध उत्पन्न करना अथवा भविष्य में उत्पन्न होने वाले विधिक संबंध को प्रभावित करना हो। सरकार को भी, चाहे वचन संविदात्मक,

प्रशासनिक अथवा वैधानिक क्षेत्र में दिया गया हो, इस सिद्धांत के संचालन के प्रति समान रूप से उत्तरदायी माना गया। न्यायालय के शब्दों में :

विधि को अब इस निर्णय के परिणामस्वरूप स्थापित माना जा सकता है कि जहाँ सरकार कोई ऐसा वचन देती है, यह जानते हुए अथवा आशय रखते हुए कि उस पर वचनग्राही द्वारा कार्य किया जाएगा, और वास्तव में वचनग्राही उस पर विश्वास करते हुए अपनी स्थिति में परिवर्तन कर लेता है, वहाँ सरकार उस वचन से आबद्ध होगी और वचनग्राही के आग्रह पर वह वचन सरकार के विरुद्ध प्रवर्तनीय होगा, भले ही उस वचन के लिए कोई प्रतिफल न हो तथा वह संविधान के अनुच्छेद 299 के अनुसार किसी औपचारिक संविदा के रूप में अभिलिखित न किया गया हो। (एससीसी पृष्ठ 442, कंडिका 24)

***

साम्य, किसी उपयुक्त मामले में जहाँ न्याय और निष्पक्षता इसकी अपेक्षा करें, किसी व्यक्ति को उसके कठोर विधिक अधिकारों पर आग्रह करने से रोकेगा, चाहे वे अधिकार किसी संविदा से नहीं, बल्कि उसके स्वयं के स्वामित्व अभिलेखों अथवा किसी विधि के अधीन उत्पन्न हुए हों। (एससीसी पृष्ठ 425, कंडिका 8)

***

सरकार जो भी कार्य कर रही हो, उसकी प्रकृति चाहे जैसी हो, वह वचनबद्ध प्रतिषेध के सिद्धांत के अधीन है और यदि इस सिद्धांत के आवश्यक अवयव विद्यमान हों, तो सरकार को अपने द्वारा किए गए वचन का पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। (एससीसी पृष्ठ 453, कंडिका 33)"

140. इस न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णय *कसिंका ट्रेडिंग बनाम भारत संघ*, [1995] 1 एससीसी 274, जिस पर श्री अंध्यारुजिना ने विशेष बल दिया था, को निम्न प्रकार पृथक् किया :

"40. अपीलकर्ता द्वारा उद्धृत कसिंका ट्रेडिंग बनाम भारत संघ का निर्णय इस प्रतिपाद्य का प्राधिकार है कि किसी राजस्व संबंधी विधि, जैसे सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 25, के अधीन केवल छूट अधिसूचना जारी किए जाने मात्र से वचनबद्ध प्रतिषेध उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी छूट अपने स्वभाव से ही निरस्त, संशोधित अथवा अन्य शर्तों के अधीन किए जाने योग्य होती है। अन्य शब्दों में, वहाँ कोई स्पष्ट और असंदिग्ध अभ्यावेदन नहीं होता। असंदिग्धता के अभाव के बीज, छूट प्रदान करने की शक्ति में ही निहित होते हैं। अतः छूट अधिसूचना को वचनबद्ध प्रतिषेध के सिद्धांत का उल्लंघन किए बिना निरस्त किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में सरकार के लिए यह स्थापित करना आवश्यक नहीं होगा कि याचिकाकर्ताओं की वचनबद्ध प्रतिषेध की दलील को विफल करने हेतु उसके पक्ष में कोई उच्चतर साम्य विद्यमान है। न्यायालय ने यह भी माना कि भारत सरकार ने लोकहित में प्रासंगिक कारणों के आधार पर छूट अधिसूचना की वापसी को उचित ठहराया था। संयोगवश न्यायालय ने वचनग्राहियों को हुई हानि के अभाव को भी रेखांकित किया और कहा : (एससीसी पृष्ठ 289, कंडिका 22)

सीमा शुल्क आदि का भार उपभोक्ता पर स्थानांतरित कर दिया जाता है और इसलिए यह समझना कठिन है कि अपीलकर्ताओं को भारी हानि कैसे हुई।

(यह भी देखें : *श्रीजी सेल्स कॉरपोरेशन बनाम भारत संघ तथा बिक्री कर अधिकारी बनाम श्री दुर्गा ऑयल मिल्स*)। हम इस निर्णय की वर्तमान मामले के तथ्यों से कोई प्रासंगिकता नहीं देखते। यहाँ अभ्यावेदन स्पष्ट और असंदिग्ध हैं।"

141. *एमआरएफ लिमिटेड, कोट्टायम बनाम सहायक आयुक्त (निर्धारण), बिक्री कर एवं अन्य*, [2006] 8 एससीसी 702 में, जिसमें हममें से एक (न्यायमूर्ति कटजू) सदस्य थे, यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि *कसिंका ट्रेडिंग* (उपरोक्त) का निर्णय उस स्थिति में लागू नहीं होगा जहाँ कोई अधिकार पहले ही अर्जित हो चुका हो; उदाहरणार्थ, जहाँ किसी निश्चित

अवधि के लिए कर-छूट का अधिकार अर्जित हो गया हो तथा उस छूट के लिए आवश्यक शर्तों का भी पालन कर लिया गया हो, वहाँ उस छूट की वापसी पहले से अर्जित अधिकार को प्रभावित नहीं कर सकती।

142. *एमआरएफ लिमिटेड* (उपरोक्त) में यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत वैधानिक अधिसूचनाओं पर भी लागू होगा।

143. हम *मदन मोहन पाठक एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य*, [1978] 2 एससीसी 50 में न्यायमूर्ति बेग द्वारा की गई एक महत्वपूर्ण टिप्पणी का भी उल्लेख कर सकते हैं। उक्त मामले में विद्वान न्यायाधीश ने अपने सहमति-निर्णय में, भारतीय जीवन बीमा निगम (समझौता संशोधन) अधिनियम, 1976 को अभिखंडित करते हुए कहा :

> "इसके अतिरिक्त, मेरा मत है कि भारत संघ बनाम इंडो-अफगान एजेंसियाँ लिमिटेड में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को भी इस मामले में उपबंध की युक्तियुक्तता का परीक्षण करते समय ध्यान में रखा जा सकता है। वहाँ (पृष्ठ 385 पर) यह कहा गया था :
>
> हमारी न्यायशास्त्रीय व्यवस्था के अधीन सरकार अपने भावी आचरण के संबंध में किए गए अभ्यावेदन को पूरा करने के दायित्व से मुक्त नहीं है और वह आवश्यकता अथवा औचित्य के किसी अपरिभाषित एवं अप्रकट आधार पर अपने द्वारा गंभीरतापूर्वक किए गए वचन का पालन करने से विमुख नहीं हो सकती; न ही वह उन परिस्थितियों का एकपक्षीय मूल्यांकन करके स्वयं को नागरिक के प्रति अपने दायित्व का निर्णायक घोषित कर सकती है, जिनमें वह दायित्व उत्पन्न हुआ है।
>
> उस मामले में सरकार के विरुद्ध साम्य के सिद्धांतों का प्रयोग किया गया था। यह सत्य है कि वर्तमान मामले में हमारे समक्ष संसद के अधिनियम का उपबंध चुनौती के अधीन है, न कि मात्र कोई शासकीय आदेश। तथापि, हम यह नहीं भूल सकते कि उक्त अधिनियम तत्कालीन सरकार के प्रस्ताव का परिणाम था, जिसने भारतीय जीवन

बीमा निगम अधिनियम की धारा 11(2) के अधीन कार्यवाही करने के स्थान पर आपातकालीन उपबंधों द्वारा संरक्षित संसद का अधिनियम बनाना उचित समझा। मेरे विचार से, प्रदत्त आश्वासन, किए गए अभ्यावेदन, सरकार का आचरण तथा उनसे उत्पन्न साम्यगत अधिकार इन सभी को यह विचार करने में ध्यान में रखा जा सकता है कि सरकार द्वारा प्रारंभ किया गया और संसद द्वारा अधिनियमित कोई विशेष विधायी उपबंध तर्कसंगत है अथवा नहीं।"

144. अतः हमारा मत है कि वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत किसी अधिकार का संरक्षण भी करता है। कोई अधिकार तब संरक्षित माना जाएगा जब उसे न तो स्पष्ट रूप से समाप्त किया गया हो और न ही वस्तुतः समाप्त किया गया हो, बल्कि उसका संरक्षण स्पष्ट रूप से किया गया हो।

145. अपीलकर्ताओं के मामले में वचनबद्ध प्रतिषेध के सिद्धांत के अनुप्रयोग को दृष्टिगत रखते हुए, उनका अधिकार नष्ट नहीं हुआ है और इस दृष्टि से, यद्यपि आक्षेपित अधिनियम के अधीन योजना 1939 के अधिनियम तथा 1962 के अधिनियम से भिन्न है, तथा 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) में प्रयुक्त शब्दावली को भी ध्यान में रखा जाए, तब भी अपीलकर्ताओं के अधिकार को नष्ट हुआ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः विधायिका ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि ऐसा अधिकार अपीलकर्ताओं में विद्यमान है।

वैध अपेक्षा

146. हम इस संदर्भ में विकसित हो रहे एक अन्य सिद्धांत, अर्थात् "सार्थक लाभ की वैध अपेक्षा" का भी उल्लेख कर सकते हैं। सामान्यतः, जहाँ विधायिका ने कोई अधिनियम अधिनियमित कर दिया हो, वहाँ उक्त सिद्धांत का कोई अनुप्रयोग नहीं होता। किन्तु, हमारे मत में, वर्तमान मामले में विधायिका ने 2003 के अधिनियम की धारा 20(1) में निहित निरसन एवं संरक्षण उपबंध को ध्यान में रखते हुए पक्षकारों को उनके विद्यमान अधिकारों का

लाभ उठाने की अनुमति दी है; अतः यह सिद्धांत यहाँ लागू होगा। यदि वचनबद्ध प्रतिषेध का सिद्धांत लागू होता है, तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि वैध अपेक्षा का सिद्धांत लागू न हो।

147. वैध अपेक्षा को अब नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का एक अंग माना जाता है। यदि विद्यमान परिस्थितियों के कारण किसी पक्षकार को यह विश्वास दिलाया जाता है कि दूसरा पक्ष नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का पालन किए बिना उसे प्राप्त लाभ से वंचित नहीं करेगा, तो उक्त सिद्धांत लागू होगा। निस्संदेह, विधायिका को विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है, किन्तु जहाँ विधि स्वयं किसी विद्यमान अधिकार को मान्यता देती है और उसे न तो स्पष्ट रूप से तथा न ही आवश्यक निहितार्थ द्वारा समाप्त करती है, वहाँ सार्थक लाभ की वैध अपेक्षा के सिद्धांतों को लागू माना जा सकता है।

148. हम इस सिद्धांत की किसी मूलभूत विधि के संबंध में प्रयोज्यता का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसका कुछ शैक्षणिक महत्व है।

149. *आर. बनाम नॉर्थ एण्ड ईस्ट डेवोन हेल्थ अथॉरिटी, एक पक्षीय कफलन,* (2001) 1 क्यू.बी. 213 में लॉर्ड वूल्फ ने वैध अपेक्षा की तीन श्रेणियों की पहचान की :

(i) "न्यायालय यह निर्णय कर सकता है कि लोक प्राधिकरण को केवल अपनी पूर्व नीति अथवा अन्य अभ्यावेदन को ध्यान में रखना आवश्यक है तथा मार्ग परिवर्तन करने का निर्णय लेने से पूर्व उसे उतना महत्व देना है जितना वह उचित समझे, उससे अधिक नहीं। ऐसी स्थिति में न्यायालय की समीक्षा केवल वेन्सबरी सिद्धांतों के आधार तक सीमित रहेगी। यह माना गया है कि नीति-परिवर्तन के मामलों में यही प्रभाव होता है।"

(ii) "दूसरी ओर, न्यायालय यह निर्णय कर सकता है कि वचन अथवा व्यवहार से यह वैध अपेक्षा उत्पन्न हुई है कि किसी विशेष निर्णय के पूर्व, उदाहरणार्थ, परामर्श किया जाएगा। ऐसी स्थिति में यह निर्विवाद है कि न्यायालय स्वयं यह अपेक्षा करेगा कि *परामर्श का अवसर* प्रदान किया जाए, जब तक कि

उससे विचलित होने का कोई अत्यावश्यक कारण न हो; ऐसी दशा में न्यायालय स्वयं नीति-परिवर्तन हेतु प्रस्तुत कारणों की पर्याप्तता का मूल्यांकन करेगा तथा यह भी देखेगा कि निष्पक्षता की क्या अपेक्षा है।"

(iii) "जहाँ न्यायालय यह विचार करता है कि किसी विधिसम्मत वचन अथवा व्यवहार ने किसी ऐसे *लाभ* की वैध अपेक्षा उत्पन्न की है जो केवल प्रक्रियात्मक न होकर *वास्तविक* अथवा सारभूत है, वहाँ भी अब यह स्थापित है कि उपयुक्त मामले में न्यायालय यह निर्णय करेगा कि क्या उस अपेक्षा को विफल करना इतना अन्यायपूर्ण है कि भिन्न एवं नवीन मार्ग अपनाना शक्ति के दुरुपयोग के समान होगा। यहाँ, एक बार अपेक्षा की वैधता स्थापित हो जाने पर, न्यायालय के समक्ष यह दायित्व होगा कि वह निष्पक्षता की आवश्यकताओं का संतुलन उस किसी भी प्रधान लोकहित के साथ स्थापित करे, जिसका आश्रय नीति-परिवर्तन के समर्थन में लिया गया है।"

(देखें, कंडिका 57 से 59 भी)

150. *आर. बनाम गृह सचिव, एक पक्षीय हिंडले*, (2001) 1 ए.सी. 410 में लॉर्ड स्टेन का प्रमुख भाषण उल्लेखनीय है, जो अपेक्षाकृत अधिक संयमित था। अपील न्यायालय ने भी *आर. (बीबी के आवेदन पर) बनाम लंदन बरो ऑफ न्यूहैम*, (2001) ईडब्ल्यूसीए दीवानी 607 में उपर्युक्त अवधारणा पर विचार किया। *बीबी* के मामले (उपरोक्त) में न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि सारभूत वैध अपेक्षा के संरक्षण हेतु उसे अधिकारिता प्राप्त है, किन्तु उसने *कफलन* (उपरोक्त) में अपनाई गई पद्धति से कुछ भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। संयुक्त निर्णय में न्यायालय ने कहा :

"वैध अपेक्षा के सभी मामलों में, चाहे वे सारभूत हों अथवा प्रक्रियात्मक, तीन व्यावहारिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। पहला प्रश्न यह है कि लोक प्राधिकरण ने, चाहे व्यवहार द्वारा अथवा वचन द्वारा, स्वयं को किस बात के लिए प्रतिबद्ध किया है; दूसरा

> प्रश्न यह है कि क्या उस प्रतिबद्धता के संबंध में प्राधिकरण ने अवैध रूप से कार्य किया है अथवा करने का प्रस्ताव किया है; तथा तीसरा प्रश्न यह है कि न्यायालय को क्या करना चाहिए।"

151. यह निर्धारित करते समय कि क्या किसी प्राधिकरण ने "अवैध रूप से" कार्य किया है, न्यायालय ने कफलन में निर्धारित मानक के प्रति असंतोष व्यक्त किया। विषय की निरंतरता बनाए रखने के लिए, इस बिंदु पर कफलन के निर्णय का उल्लेख करना उपयुक्त होगा :

> परंपरागत दृष्टिकोण यह रहा है कि *वेन्सबरी* की श्रेणियाँ ही शक्ति के दुरुपयोग की सभी स्थितियों को समाहित करती हैं। तथापि, *कफलन* में न्यायालय ने यह अभिमत व्यक्त किया कि '*वेन्सबरी* की श्रेणियों को सार्वजनिक शक्ति के दुरुपयोग के प्रमुख उदाहरणों के रूप में देखा जाना चाहिए (अनिवार्यतः एकमात्र उदाहरणों के रूप में नहीं)' (कंडिका 81)।
>
> कफलन में न्यायालय ने *आर. बनाम अंतर्देशीय राजस्व आयुक्त, एक पक्षीय यूनिलीवर,* (1996) एस.टी.सी. 681 का अनुसरण करते हुए यह प्रश्न विचार किया कि क्या किसी प्राधिकरण द्वारा अपने वचन से विमुख होना "इतना अन्यायपूर्ण है कि उसे शक्ति का दुरुपयोग माना जाए" (कंडिका 78)। न्यायालय ने निष्कर्ष निकाला कि ऐसा था। तथापि, यदि इस सिद्धांत का और परिष्कार न किया जाए, तो यह प्रश्न कि वचन से विमुख होना कितना अन्यायपूर्ण है कि उसे शक्ति का दुरुपयोग कहा जाए, स्वयं एक अनिश्चित मार्गदर्शक सिद्ध होता है।

ऐसा दुरुपयोग स्थापित हो जाने के पश्चात न्यायालय निर्णयकर्ता को यह निर्देश दे सकता है कि वह "निर्णय-प्रक्रिया में वैध अपेक्षा का समुचित रूप से संज्ञान ले।" इससे यह आवश्यक रूप से निष्कर्ष नहीं निकलता कि सारभूत लाभ की वैध अपेक्षा को अवश्य ही पूरा किया जाएगा। [देखें : *बैरेट बनाम हॉवर्ड,* (2000) एफ.सी.ए. 190]

152. तथापि, हमारा अभिप्राय यह प्रतिपादित करना नहीं है कि उक्त सिद्धांत का प्रयोग उस स्थिति में भी किया जाए जहाँ राज्य संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची-2 में प्रदत्त प्रविष्टियों के अधीन अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग कर रहा हो। हमारी टिप्पणियों को अनिवार्यतः उपर्युक्त निर्णयों के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए।

माँग शुल्क

153. हम पूर्व में यह उल्लेख कर चुके हैं कि भारत के संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची-II की प्रविष्टि 53 तथा सूची-III की प्रविष्टि 38 द्वारा निर्मित विधायी क्षेत्र भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं। 1948 का अधिनियम विद्युत के उत्पादन एवं आपूर्ति के युक्तिकरण तथा सामान्यतः विद्युत विकास के अनुकूल उपाय करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था।

154. 1948 के अधिनियम की धारा 46 तथा धारा 49 के अधीन राज्य विद्युत बोर्डों द्वारा शुल्क-दर निर्धारित की जाती है। शुल्क-दर निर्धारण के लिए उनके समक्ष विभिन्न प्रकार के विचार हो सकते हैं। हम पूर्व में *बीएसईएस लिमिटेड* (उपरोक्त) में 'शुल्क-दर' की परिभाषा का उल्लेख कर चुके हैं, जिस पर स्वयं श्री अंध्यारुजिना ने भी भरोसा किया था। अतः शुल्क-दर पर कर तथा विद्युत ऊर्जा के उपभोग या विक्रय पर कर, दोनों भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं। यदि यह माना जाए कि विद्युत विनियामक आयोग की शुल्क-दर निर्धारित करने की शक्ति में कर अधिरोपित करने की शक्ति सम्मिलित नहीं है, तो स्वयंसिद्ध रूप से यही सिद्धांत उस स्थिति में भी लागू होगा जब कर विद्युत ऊर्जा के उपभोग या विक्रय पर लगाया जाए, न कि शुल्क-दर पर। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, कराधान की शक्ति तथा शुल्क-दर अधिरोपित करने की शक्ति भिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। अनुज्ञप्तिधारी द्वारा अपनी वैधानिक शक्ति का प्रयोग करते हुए विधिपूर्वक निर्धारित की गई शुल्क-दर विभिन्न प्रकार के उपभोक्ताओं को विद्युत विक्रय के लिए अधिक दर का प्रावधान कर सकती है, यदि अधोसंरचना के अनुरक्षण की आवश्यकता ऐसा अपेक्षित करती हो। जब अधिकतम

माँग प्रभार अधिरोपित किया जाता है, तब उसका आशय विद्युत ऊर्जा के विक्रय या उपभोग से नहीं होता। अधिकतम शुल्क-दर विभिन्न कारणों से निर्धारित की जाती है। इस न्यायालय ने *आईपीआई स्टील लिमिटेड* (उपरोक्त) में इस संबंध में निम्नलिखित कहा है :

> "केवल इस परिस्थिति से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उपभोग प्रभार लगाने की यह कोई मनमानी पद्धति है। सामान्यतः कोई कारखाना ऊर्जा का उपयोग लगभग स्थिर स्तर पर करता है। यह संभव है कि कुछ अवसरों पर, चाहे यंत्र-विघटन, हड़ताल, बंदी अथवा अन्य कारणों से, कारखाना कुछ अवधि तक अपेक्षित स्तर पर ऊर्जा का उपयोग न कर सके, किन्तु ये अपवादात्मक स्थितियाँ हैं। प्रत्येक कारखाना सामान्य रूप से कार्य करने की अपेक्षा करता है। इसी प्रकार विद्युत समिति भी यह अपेक्षा करता है और उसी के अनुसार वह कारखाने की आवश्यकता के अनुरूप विद्युत उत्पन्न कर उसे तत्पर अवस्था में उपलब्ध रखता है; अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि वह उसे सदैव उपलब्ध रखता है। जैसा कि पूर्व में बलपूर्वक कहा गया है, एक बार विद्युत उत्पन्न हो जाने पर उसे भविष्य के उपयोग हेतु संग्रहित नहीं किया जा सकता। यही माँग प्रभार तथा उसकी वसूली की पद्धति का कारण और औचित्य है। इस प्रकार के अधिरोपण का एक और औचित्य है, और वह यह कि माँग प्रभार तथा उपभोग प्रभार विभिन्न मदों की पूर्ति के लिए निर्धारित किए जाते हैं। सामान्यतः माँग प्रभार का उद्देश्य पूँजीगत व्यय की पूर्ति करना होता है, जबकि उपभोग प्रभार का उद्देश्य संचालन व्यय की पूर्ति करना होता है। प्रत्येक विद्युत समिति को यंत्र, संयंत्र, उपकरण, उपकेंद्र, पारेषण लाइनें आदि स्थापित करनी पड़ती हैं, जिन पर भारी पूँजीगत व्यय होता है। समिति को, अन्य निगमों की भाँति, इसके लिए धन की व्यवस्था करनी पड़ती है, जिसका अर्थ है कि उसे ऋण प्राप्त करना होता है। उन ऋणों का ब्याज सहित पुनर्भुगतान करना पड़ता है। यंत्रों, उपकरणों तथा भवनों के मूल्यह्रास का भी प्रावधान करना पड़ता है। संयंत्रों, यंत्रों, उपकेंद्रों तथा

पारेषण लाइनों का अनुरक्षण करना होता है, जिसके लिए विशाल कर्मचारी-वर्ग की आवश्यकता होती है। इन्हीं पूँजीगत व्ययों की पूर्ति हेतु माँग प्रभार अधिरोपित एवं वसूल किए जाते हैं, जबकि संचालन व्ययों की पूर्ति हेतु उपभोग प्रभार अधिरोपित एवं वसूल किए जाते हैं।

11. यहाँ कुछ क्षण रुककर हम अधिकतम माँग के महत्व और उसकी प्रासंगिकता को स्पष्ट कर सकते हैं। किसी संयंत्र अथवा कारखाने की अधिकतम माँग यह निर्धारित करती है कि उसके लिए किस प्रकार की लाइनें बिछाई जाएँगी तथा किस क्षमता के परिवर्तित्र और अन्य उपकरण स्थापित किए जाएँगे। उदाहरणार्थ, 1000 केवीए की अधिकतम माँग वाले कारखाने तथा 10,000 केवीए की अधिकतम माँग वाले कारखाने के लिए भिन्न प्रकार की लाइनें तथा उपकरण आवश्यक होंगे। बाद वाले कारखाने के लिए अधिक भार वहन करने वाली लाइनें आवश्यक होंगी। अधिक क्षमता वाले परिवर्तित्र स्थापित करने पड़ेंगे। कभी-कभी बड़े उपभोक्ताओं के लिए तो पृथक उपकेंद्र तक स्थापित करना पड़ता है। प्रायः ऐसे उद्योग विद्युत गृहों तथा मुख्य पारेषण लाइनों से दूर स्थित होते हैं, जिसके कारण उन्हें विद्युत आपूर्ति देने हेतु लंबी दूरी तक विशेष विद्युत लाइनें बिछानी पड़ती हैं। वास्तव में अधिकतम माँग का महत्व इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि समिति और उपभोक्ता (जैसे वर्तमान उत्तरदाता) के मध्य होने वाले करार में केवल अधिकतम माँग का उल्लेख किया जाता है, न कि उपभोग हेतु अनुमत कुल विद्युत इकाइयों का। वर्तमान मामले के करार में अधिकतम माँग 7778 केवीए निर्धारित की गई है, किन्तु उपभोग की जाने वाली कुल ऊर्जा इकाइयों की संख्या निर्दिष्ट नहीं की गई है। श्री हेगड़े के अनुसार इसका कारण यह है कि उपभोग की गई कुल ऊर्जा इकाइयाँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि विद्युत किस भार अथवा स्तर पर ग्रहण की जा रही है। उत्तरदाता के उदाहरण में यह सूत्र निम्न प्रकार बताया गया है : उत्तरदाता की 100% अप्रतिबंधित ऊर्जा आवश्यकता =

संविदात्मक माँग (केवीए में) × शक्ति गुणांक × भार गुणांक × वर्ष के कुल घंटों की संख्या वास्तविक रूप में : 7778 केवीए × 0.90 × 0.611 × 8760 = 37,467,590 किलोवाट-घंटे (इकाइयाँ) = 37.46759 मिलियन इकाइयाँ यह सूत्र, जैसा कि इसके शब्दों से स्पष्ट है, अप्रतिबंधित आपूर्ति की धारणा पर आधारित है। समस्याएँ केवल तब उत्पन्न होती हैं जब समिति द्वारा विद्युत उत्पादन में कमी के कारण उपभोग पर प्रतिबंध लगाए जाते हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा।"

155. अतः, जो बात शुल्क-दर निर्धारण के प्रयोजन से अनुमेय हो, वह आवश्यक नहीं कि कर अधिरोपण के लिए भी अनुमेय हो। उच्च-दाब विद्युत आपूर्ति के लिए शुल्क-दर दो भागों में विभाजित होती है, अर्थात् (क) उपभोगित इकाइयाँ तथा (ख) अधिकतम माँग। उच्च न्यायालय ने इस आधार पर कि कर केवल अधिकतम माँग अर्थात् उपभोगित ऊर्जा पर लगाया जाता है, एक त्रुटिपूर्ण आधार ग्रहण किया। अब यह स्वीकार किया जा चुका है कि उच्च-दाब विद्युत ऊर्जा के उपभोक्ता के कारखाना परिसर में स्थापित अधिकतम माँग सूचकांक किसी माह में विद्युत ऊर्जा के कुल उपभोग के दौरान किसी भी लगातार तीस मिनट की अवधि में आहरित ऊर्जा की अधिकतम मात्रा को प्रदर्शित करता है। अधिकतम माँग प्रभार उसी आधार पर निर्धारित किया जाता है, यद्यपि संयोजित माँग उससे कहीं अधिक हो सकती है।

156. श्री अंध्यारुजिना ने स्वयं हमारे समक्ष तमिलनाडु विद्युत समिति की विद्युत आपूर्ति की शर्तें एवं नियम प्रस्तुत किए हैं, जिनमें 'माँग' को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है:

"(vii) 'माँग' —

(क) 'मासिक औसत माँग' से अभिप्राय उस माह में उपभोगित कुल किलोवाट-घंटों तथा उस माह के कुल घंटों के अनुपात से है।

(ख) 'मासिक अधिकतम माँग' से अभिप्राय उस माह के दौरान उपभोक्ता के आपूर्ति बिंदु पर किसी भी लगातार तीस मिनट की अवधि में प्रदत्त औसत किलोवोल्ट-ऐम्पियर का उच्चतम मान है।

(ग) 'अनुमत माँग' से अभिप्राय समिति के पारेषण तथा वितरण तंत्र की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए समिति के सक्षम प्राधिकारी द्वारा अनुमत माँग से है। (यह परिभाषा 'प्रतिबंध एवं नियंत्रण' आदेशों के अंतर्गत अनुमत माँग कोटा पर लागू नहीं होगी।)

(घ) 'स्वीकृत माँग' अथवा 'संविदात्मक माँग' से अभिप्राय समिति के सक्षम प्राधिकारी द्वारा स्वीकृत तथा करार में विनिर्दिष्ट माँग से है।"

'भार' को खंड 2(ix)(क) में निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है :

"(ix) 'भार' —

(क) 'संयोजित भार' से अभिप्राय उपभोक्ता के प्रतिष्ठान में संयोजित समस्त उपकरणों तथा सभी चल उपकरणों की निर्माता द्वारा निर्धारित कुल क्षमता से है।

इसे किलोवाट अथवा अश्व-शक्ति में व्यक्त किया जाता है। यदि क्षमता किलोवोल्ट-ऐम्पियर में हो, तो उसे 0.9 शक्ति-गुणांक से गुणा कर किलोवाट में परिवर्तित किया जाता है। यदि क्षमता अश्व-शक्ति में हो, तो उसे 0.746 से गुणा कर किलोवाट में परिवर्तित किया जाता है।

(ख) 'संविदात्मक भार' से अभिप्राय उस भार से है जो करार में विनिर्दिष्ट किया गया हो।"

157. इसी प्रकार की परिभाषाएँ तमिलनाडु विद्युत वितरण संहिता में भी प्रदान की गई हैं।

158. उपर्युक्त विभिन्न प्रकार की माँगों की परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि किसी माह की अधिकतम माँग से अभिप्राय उस माह में किसी भी लगातार तीस मिनट की अवधि

के दौरान उपभोक्ता के आपूर्ति बिंदु पर प्रदत्त ऊर्जा के उच्चतम मान से है। अतः यह तर्क देना कि वास्तविक उपभोग और अधिकतम माँग के मध्य कोई भेद नहीं है, सही नहीं है। उच्च न्यायालय ने स्वयं निम्न-दाब उपभोग तथा उच्च-दाब उपभोग के मध्य भेद को स्वीकार किया है। वास्तव में ऐसा भेद अस्तित्व में है। अतः हमारे मत में ऐसा अर्थ ग्रहण करना उचित नहीं होगा।

159. यह सुविदित है कि कराधान संबंधी विधि की कठोर व्याख्या की जानी चाहिए। [देखें : *मनीष माहेश्वरी बनाम आयकर सहायक आयुक्त एवं अन्य*, [2007] 3 स्केल 627]

160. अतः कराधान संबंधी विधि का निर्माण भारत के संविधान के अनुच्छेद 265 के अनुरूप होना चाहिए। श्री अंध्यारुजिना ने हमारा ध्यान संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड (29क) के उपखंड (घ) की ओर आकर्षित करते हुए यह तर्क दिया कि स्वयं संविधान ने इस पद को विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। किन्तु खंड (29क) अन्य उपबंधों के अधीन है। इसे संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची-2 की प्रविष्टि 54 के अधीन परिकल्पित वस्तुओं के विक्रय अथवा क्रय पर कर को परिभाषित करने के उद्देश्य से सम्मिलित किया गया है, न कि प्रविष्टि 53 के प्रयोजनार्थ।

161. ऐसे स्पष्टीकरण को सम्मिलित करने का कारण इस न्यायालय के निर्णय *मद्रास राज्य बनाम गैनन डंकरले एंड कम्पनी (मद्रास) लिमिटेड*, [1959] एससीआर 379 के प्रभाव को निष्प्रभावी करना था, जिसमें यह धारित किया गया था कि निर्माण संविदा के निष्पादन में हस्तांतरित सामग्री के विक्रय पर कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता। उक्त निर्णय में कहा गया था :—

> "हमारे मत में, 'विक्रय' शब्द के अर्थ को उन शब्दों के अभाव से, जो उसे 'वस्तु विक्रय अधिनियम' में निहित अर्थ से जोड़ते हों, उस प्रकार नहीं समझा जाना चाहिए। हमारा विचार है कि वास्तविक विधायी आशय यह है कि प्रविष्टि 48 में प्रयुक्त 'वस्तुओं का विक्रय' अभिव्यक्ति वही निश्चित और सुस्पष्ट विधिक अर्थ धारण करे जो

विधि में उसे प्राप्त है, और उसका अर्थ उन विधियों में समय-समय पर प्रचलित 'विक्रय' की परिभाषा के अनुसार परिवर्तित न हो, जो वस्तुओं के विक्रय से संबंधित हों। इसके पश्चात यह कहा गया कि कुछ प्रविष्टियों में, उदाहरणार्थ सूची-2 की प्रविष्टियाँ 31 तथा 49 में, 'विक्रय' शब्द का प्रयोग 'वस्तु विक्रय अधिनियम, 1930' की अपेक्षा व्यापक अर्थ में किया गया है। प्रविष्टि 31 मादक मदिराओं एवं मादक द्रव्यों से संबंधित है, अर्थात् मादक मदिराओं, अफीम तथा अन्य मादक द्रव्यों का उत्पादन, निर्माण, कब्जा, परिवहन, क्रय तथा विक्रय। तर्क यह है कि उक्त प्रविष्टि में 'विक्रय' का अर्थ विनिमय को भी सम्मिलित करते हुए किया जाना चाहिए, क्योंकि विधि की नीति केवल उन्हीं हस्तांतरणों को निषिद्ध करने की नहीं हो सकती जिनके बदले धनराशि का प्रतिफल दिया गया हो। परंतु यह तर्क उन सिद्धांतों की गलत समझ पर आधारित है जिनके आधार पर प्रविष्टियों का प्रारूपण किया गया है। प्रारूपण की योजना यह है कि प्रविष्टि के प्रारंभ में व्यापक अर्थ वाले शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं और उसके पश्चात उसके विशिष्ट पक्षों से संबंधित शब्दों का उल्लेख किया जाता है। तथापि, सामान्य शब्दों के प्रभाव को केवल इस कारण सीमित नहीं किया जा सकता कि उनमें विशिष्ट पहलुओं से संबंधित उप-शीर्षक भी सम्मिलित हैं..."

162. *गैनन डंकरले एंड कम्पनी (मद्रास) लिमिटेड* (उपरोक्त) के निर्णय पर इस न्यायालय की तीन-न्यायाधीशीय पीठ ने *भारत संचार निगम लिमिटेड एवं अन्य बनाम भारत संघ एवं अन्य*, [2006] 3 एससीसी 1 में विचार किया और निम्न प्रकार कहा :

"43. संविधान के छियालीसवें संशोधन के पश्चात भी गैनन डंकरले का निर्णय दो दृष्टियों से प्रभावी बना रहा। प्रथम, सामान्यतः संविधान के प्रयोजनों तथा विशेष रूप से सूची-2 की प्रविष्टि 54 के प्रयोजनों के लिए 'विक्रय' की परिभाषा के संबंध में, उन सीमाओं तक जहाँ तक अनुच्छेद 366(29-क) के उपबंध प्रभावी नहीं होते। पृथक-पृथक कल्पित विक्रयों की श्रेणियाँ निर्मित करने से 'वस्तु' शब्द का अर्थ परिवर्तित

नहीं हुआ। अतः विक्रय के समग्र अवयवों, जैसे पक्षकारों की मंशा, वस्तु, सुपुर्दगी आदि की परिभाषा पूर्ववत् स्थापित विधिक अर्थों के अनुसार ही की जाएगी। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन अवधारणाओं की विषय-वस्तु स्थिर रहेगी; न्यायालयों को समय के साथ चलना होगा। किंतु छियालीसवाँ संशोधन यह अनुमति नहीं देता कि, उदाहरणार्थ, पहले किसी व्यवहार को विक्रय मान लिया जाए और फिर यह खोजा जाए कि उसमें वस्तु क्या थी। 'वस्तु' शब्द को छियालीसवें संशोधन द्वारा परिवर्तित नहीं किया गया है। विक्रय का यह अवयव पूर्ववत् वही परिभाषा रखता है। द्वितीय, जिस दृष्टि से गैनन डंकरले का निर्णय प्रभावी बना रहा, वह यह है कि अनुच्छेद 366(29-क) के अंतर्गत न आने वाले मिश्रित व्यवहारों पर 'प्रधान प्रकृति परीक्षण' लागू होगा। जो व्यवहार कल्पित विक्रय हैं, वे अनुच्छेद 366(29-क) के उपखंडों तक ही सीमित हैं। अन्य सभी व्यवहारों को विक्रय कर अधिरोपण के उद्देश्य से 'वस्तु विक्रय अधिनियम, 1930' के अर्थ में विक्रय सिद्ध होना होगा।"

उक्त वाद का उल्लेख करते हुए यह भी अभिनिर्धारित किया गया :

"105. संशोधन द्वारा एक विधिक कल्पना स्थापित की गई जिसके माध्यम से छह प्रकार के व्यवहारों को वस्तुओं के कल्पित विक्रय के रूप में माना गया तथा यह परिभाषा संविधान के प्रत्येक ऐसे उपबंध में पढ़ी जाएगी जहाँ 'वस्तुओं के विक्रय अथवा क्रय पर कर' वाक्यांश प्रयुक्त हुआ है। इस परिभाषा ने गैनन डंकरले एंड कम्पनी के निर्णय द्वारा घोषित विधि को केवल उन व्यवहारों के संबंध में परिवर्तित किया जो कल्पित विक्रय की श्रेणी में आते हैं। अन्य सभी दृष्टियों से इस न्यायालय द्वारा घोषित विधि अप्रभावित रही। अनुच्छेद 366(29-क) का प्रत्येक उपखंड इस न्यायालय के किसी निर्णय के परिणामस्वरूप सम्मिलित किया गया था, जिसे निष्प्रभावी अथवा संशोधित करना उद्देश्य था। उपखंड (क) *न्यू इंडिया शुगर मिल्स लिमिटेड बनाम वाणिज्य कर आयुक्त तथा विष्णु एजेंसीज़ (प्रा.) लिमिटेड बनाम*

वाणिज्य कर अधिकारी का परिणाम है। उपखंड (ख) गैनन डंकरले एंड कम्पनी का परिणाम है। उपखंड (ग) *के. एल. जोहर एंड कम्पनी बनाम वाणिज्य कर अधिकारी* का परिणाम है। उपखंड (घ) *ए. वी. मीयप्पन बनाम वाणिज्य कर आयुक्त* के परिणामस्वरूप आया। उपखंड (ङ) *वाणिज्य कर अधिकारी बनाम यंग मेन्स इंडियन एसोसिएशन* (पंजीकृत) के परिणामस्वरूप तथा उपखंड (च) *नॉर्दर्न इंडिया कैटरर्स (इंडिया) लिमिटेड बनाम दिल्ली के उप-राज्यपाल* तथा *पंजाब राज्य बनाम एसोसिएटेड होटल्स ऑफ इंडिया लिमिटेड* के परिणामस्वरूप सम्मिलित किया गया।

106. उपर्युक्त पृष्ठभूमि, छियालीसवें संशोधन के समय की परिस्थितियों तथा उद्देश्यों एवं कारणों के विवरण में परिलक्षित पूर्व-विधायी इतिहास को ध्यान में रखते हुए अनुच्छेद 366(29-क) की व्याख्या की जानी चाहिए। प्रत्येक विधिक कल्पना, जिसके द्वारा ऐसे छह व्यवहार जिन्हें अन्यथा विक्रय नहीं माना जाता, विक्रय के रूप में मान्य किए गए हैं, केवल संबंधित उपखंड के भीतर ही स्वतंत्र रूप से प्रभावी होती है।

107. यद्यपि अनुच्छेद 366(29-क) की संपूर्णता को समग्र रूप से पढ़ने पर संशोधन का वास्तविक दायरा समझा जा सकता है, तथापि प्रत्येक विशिष्ट उपखंड के अंतर्गत कल्पित विक्रय का निर्धारण केवल उसी उपखंड में निहित मानकों के भीतर किया जाना चाहिए। एक उपखंड को दूसरे उपखंड में आरोपित नहीं किया जा सकता और न ही एक विधिक कल्पना पर दूसरी विधिक कल्पना आरोपित की जा सकती है। विधिक कल्पना की व्याख्या, विशेषकर विक्रय कर संबंधी विधानों में, *बंगाल इम्यूनिटी कम्पनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य*, एससीआर पृष्ठ 647 में प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित सिद्धांतों के अनुसार की जानी चाहिए :"

अनुच्छेद 286 के विभिन्न भागों के क्रियाशील उपबंध, अर्थात् खंड (1)(क), खंड (1)(ख), खंड (2) तथा खंड (3), स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न विषयों से संबंधित हैं और

इसलिए एक को दूसरे में आरोपित या उसमें पढ़ा नहीं जा सकता।" (एस. आर. दास, कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश)

(देखें : पृष्ठ 720 एवं 721, एन. पी. भगवती न्यायमूर्ति)

उक्त निर्णय में स्पष्ट रूप से यह भी धारित किया गया :

"75. हमारे मत में अनुच्छेद 366(29-क)(घ) के अधीन अधिकार का सार यह है कि वह वस्तुओं के उपयोग से संबंधित है। यह संभव है कि वस्तुओं के उपयोग के अधिकार के अंतरण के लिए वस्तुओं का वास्तविक परिदान आवश्यक न हो, किन्तु अंतरण के समय वस्तुओं का उपलब्ध होना, परिदेय होना तथा किसी चरण पर उनका परिदान किया जाना आवश्यक है। उपयोग के अधिकार के अंतरण संबंधी किसी भी करार के निष्पादन के समय यह मान लिया जाता है कि वस्तुएँ उपलब्ध तथा परिदेय हैं। यदि वस्तुएँ, अथवा जिन्हें उत्तरदाताओं द्वारा वस्तुएँ बताया जा रहा है, सेवा प्रदाताओं द्वारा ग्राहकों को किसी भी प्रकार परिदान योग्य ही न हों, तो उन वस्तुओं के उपयोग के अधिकार का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा।"

यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि केवल इस कारण कि समिति विद्युत ऊर्जा की आपूर्ति हेतु स्वयं को तत्पर रखता है, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि परिदेय वस्तुएँ विद्यमान थीं अथवा उनका परिदान किया गया था।

163. हम यहाँ वस्तुओं के उपयोग के प्रश्न से संबंधित नहीं हैं और इसलिए वस्तुओं की परिदेयता का प्रश्न विचाराधीन नहीं है।

164. यह सही है कि विद्युत को 'वस्तु' माना गया है, किन्तु ऐसा संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड (12) में निहित 'वस्तु' की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए किया गया है। जब इस न्यायालय ने विक्रय कर संबंधी विधियों तथा अन्य कर संबंधी विधियों के प्रयोजनों के लिए विद्युत को 'वस्तु' माना, तब हमारे मत में उसका भारत के संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची-2 की प्रविष्टि 53 की व्याख्या से कोई संबंध नहीं है।

165. आपूर्ति का अर्थ विक्रय नहीं है। और उससे भी अधिक, उसका अर्थ उपभोग भी नहीं है।

166. 'वस्तु' मूर्त संपत्ति भी हो सकती है और अमूर्त संपत्ति भी। वह तभी वस्तु कहलाएगी जब उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ विद्यमान हों (क) उपयोगिता हो; (ख) क्रय-विक्रय योग्य हो; तथा (ग) प्रेषित, हस्तांतरित, परिदत्त, संग्रहीत तथा आधिपत्य में रखी जा सकने योग्य हो।

167. श्री अंध्यारुजिना ने इस न्यायालय के निर्णय *मेसर्स नॉर्दर्न इंडिया आयरन एंड स्टील कम्पनी बनाम हरियाणा राज्य एवं एक अन्य*, [1976] 2 एससीसी 877 पर विशेष बल दिया, जिसमें यह कहा गया था :

> "10. जहाँ तक शुल्क का प्रश्न है, हम अपीलकर्ताओं की ओर से प्रस्तुत इस अत्यधिक तर्क को पूर्णतः अस्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करते कि माँग प्रभार पर किसी प्रकार का शुल्क देय ही नहीं है। किन्तु यह स्पष्ट है, और हरियाणा राज्य की ओर से उपस्थित सॉलिसिटर जनरल ने भी इसे निष्पक्ष रूप से स्वीकार किया, कि देय शुल्क की राशि वही होगी जो शुल्क-दर के खंड 4(च) के अधीन आनुपातिक कटौती के पश्चात उपभोक्ता से वास्तव में वसूल की जाने वाली माँग प्रभार राशि पर आधारित होगी।
>
> 11. शुल्क अधिनियम की धारा 3 उपबंधित करती है कि समिति द्वारा उपभोक्ता को आपूर्ति की गई ऊर्जा पर राज्य सरकार को विद्युत शुल्क नामक शुल्क आरोपित एवं देय होगा, जिसकी गणना धारा 3 की उपधारा (1) के विभिन्न खंडों में निर्दिष्ट दरों के अनुसार की जाएगी। विभिन्न खंडों में प्रयुक्त अभिव्यक्ति यह है कि जहाँ ऊर्जा किसी विशेष प्रकार के उपभोक्ता को आपूर्ति की जाती है, वहाँ शुल्क की दर वही होगी जो उसमें निर्दिष्ट है। इसी अभिव्यक्ति के आधार पर अपीलकर्ता की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि शुल्क केवल वास्तविक रूप से आपूर्ति की गई ऊर्जा के ऊर्जा

प्रभार पर ही लगाया जा सकता है। ऐसा तर्क इतना स्पष्ट रूप से त्रुटिपूर्ण है कि उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि इन खंडों को समग्र रूप से पढ़ा जाए, तो स्पष्ट होगा कि शुल्क एक माह में आपूर्ति की गई ऊर्जा के मूल्य पर देय है। द्वि-भागीय शुल्क-दर प्रणाली में ऊर्जा का मूल्य, ऊर्जा प्रभार के साथ-साथ माँग प्रभार को भी सम्मिलित करता है। यह बात पंजाब विद्युत (शुल्क) नियम, 1958 के नियम 3 में प्रदत्त गणना-पद्धति से और भी स्पष्ट हो जाती है। उपनियम (1) में कहा गया है :

अधिनियम की धारा 3 की उपधारा (1) के खंड (iii) तथा (iv) के अधीन देय शुल्क की गणना समिति की शुद्ध दर पर वसूल योग्य ऊर्जा के मूल्य पर की जाएगी, जिसमें, जहाँ आपूर्ति द्वि-भागीय शुल्क-दर द्वारा नियंत्रित हो, माँग प्रभार भी सम्मिलित होगा।'"

उस मामले में 'शुद्ध ऊर्जा' जैसा कोई पद अस्तित्व में नहीं था।

168. हम यहाँ यह भी उल्लेख कर सकते हैं कि इस न्यायालय ने *वेस्ट कोस्ट पेपर्स मिल्स लिमिटेड* (उपरोक्त) के मामले में यह धारित किया था कि पारेषण हानि पर कोई कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता, यह कहते हुए :

"7. हमने अधिनियम के प्रासंगिक उपबंधों का उल्लेख कर दिया है और उनसे यह स्पष्ट होता है कि विद्युत कर उपभोगित ऊर्जा की इकाइयों पर देय है। इस अपील में हमारे विचारार्थ जो एकमात्र प्रश्न है, वह यह है कि क्या पारेषण हानि अथवा रूपांतरण यंत्र हानि के परिणामस्वरूप पारेषण के दौरान नष्ट हो जाने वाली विद्युत ऊर्जा के संबंध में भी विद्युत कर देय है। जहाँ तक इस प्रश्न का संबंध है, हमारा मत है कि इस प्रकार नष्ट हुई विद्युत पर कोई कर देय नहीं है। अधिनियम की संपूर्ण योजना विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर कर लगाने की है। जहाँ कुछ ऊर्जा उपभोग तक पहुँचने से पूर्व ही नष्ट हो जाती है और उसका उपभोग नहीं होता, वहाँ ऐसी ऊर्जा के उपभोग पर कर लगाने का प्रश्न वस्तुतः उत्पन्न ही नहीं होता। सामान्यतः विद्युत ऊर्जा के उपभोग

का स्थान उस स्थान से कुछ दूरी पर होता है जहाँ उसका उत्पादन किया जाता है। फलतः विद्युत ऊर्जा को धातु चालकों के माध्यम से उपभोग स्थल तक प्रेषित करना पड़ता है। ऐसा पारेषण निर्विवाद रूप से कुछ विद्युत ऊर्जा की हानि का कारण बनता है और जो ऊर्जा नष्ट हो जाती है वह स्पष्टतः उपभोग हेतु उपलब्ध नहीं रहती तथा उसका उपभोग नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति 100 इकाई विद्युत ऊर्जा उत्पन्न करता है और उत्पादन स्थल से उपभोग स्थल तक पारेषण की प्रक्रिया में 10 इकाई ऊर्जा नष्ट हो जाती है, तो स्वाभाविक रूप से वह उपभोक्ताओं को केवल 90 इकाई विद्युत ऊर्जा ही उपलब्ध करा सकेगा। ऐसी स्थिति में उपभोगित विद्युत ऊर्जा पर देय कर केवल 90 इकाइयों पर होगा, 100 इकाइयों पर नहीं। अन्यथा धारित करना और 100 इकाइयों पर कर वसूलना वस्तुतः विद्युत ऊर्जा के उपभोग पर नहीं, बल्कि उसके उत्पादन अथवा सृजन पर कर अधिरोपित करने के समान होगा। विद्युत ऊर्जा के उत्पादन अथवा सृजन पर ऐसा कर अधिनियम के अधीन स्पष्टतः अनुमेय नहीं है। वर्तमान मामले में उपभोक्ता वही कंपनी है जिसने विद्युत ऊर्जा का उत्पादन किया है, इस तथ्य से हमारे मत में कोई वास्तविक अंतर नहीं पड़ता।"

169. हमारा ध्यान एक साधारण विद्युत बिल की ओर आकर्षित किया गया, जिसके अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि यद्यपि अनुमत अधिकतम माँग 350 केवीए थी, तथापि अभिलिखित माँग 144 केवीए होने के कारण विद्युत कर केवल 144 केवीए के आधार पर ही आरोपित किया गया था, न कि 350 केवीए के आधार पर। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अधिकतम माँग वास्तविक विद्युत आपूर्ति से भिन्न किसी अन्य अवधारणा को व्यक्त करती है, उस पर कर अधिरोपित करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। *मेसर्स नॉर्दर्न इंडिया आयरन एंड स्टील कम्पनी* (उपरोक्त) के मामले में इस न्यायालय ने कोई कारण निर्दिष्ट नहीं किया था। उक्त निर्णय में संविधान के अनुच्छेद 366(12) के उपबंधों अथवा संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची-2 की प्रविष्टि 53 के प्रभाव पर विचार नहीं किया गया। यह भी

विचार नहीं किया गया कि राज्य केवल इस कारण कर अधिरोपित नहीं कर सकता कि राज्य विद्युत समिति कुछ सेवाओं के लिए शुल्क वसूलने का अधिकारी है। यह पुनः दोहराया जाना आवश्यक है कि शुल्क-दर और कर की अवधारणाएँ भिन्न हैं। जहाँ शुल्क-दर विभिन्न प्रभारों की सूची को सम्मिलित करती है, वहीं कर का आधार वास्तविक तथ्य होना चाहिए। यह न तो मामला है और न ही ऐसा कहा जा सकता है कि विद्युत ऊर्जा के वास्तविक विक्रय अथवा उपभोग पर कर अधिरोपित करना, तथ्यगत परिस्थितियों को देखते हुए, असंभव था। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, दो पृथक मीटर लगाए जाते हैं एक वास्तविक विद्युत उपभोग को मापने के लिए तथा दूसरा, जो त्रिवेक्टर मीटर होता है, केवल अधिकतम माँग को अभिलिखित करता है।

170. यह सुविदित है कि कोई निर्णय उस बात के लिए प्राधिकार होता है जिसे वह वास्तव में निर्णयित करता है, न कि उस बात के लिए जिसे उससे तार्किक रूप से निष्कर्षित किया जा सकता है। कोई निर्णय उस बिंदु पर प्राधिकार नहीं होता जिस पर विचार ही नहीं किया गया हो।

171. उपर्युक्त कारणों से हमारा मत है कि आक्षेपित निर्णय को बनाए नहीं रखा जा सकता। अतः उसे अभिखंडित किया जाता है। अपीलें उपर्युक्त सीमा तक स्वीकार की जाती हैं। व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं।

जी.एन. अपील की आंशिक रूप से अनुमति है।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।